

४६

शीराज़ा

हिन्दी

प्रमुख सम्पादक : मुहम्मद यूसुफ टेंग

सम्पादक : रमेश मेहता

वर्ष : १६ / अंक : ५ (फरवरी-मार्च १९८०) ; सम्पादकीय पत्र-व्यवहार : रमेश मेहता, सम्पादक, शीराज़ा हिन्दी, जे० एण्ड के० कल्चरल अकादमी, नहर मार्ग, जम्मू ;

फोन : ५०४०

यह अंक : दो रुपये

वार्षिक शुल्क : दस रुपये

अनुक्रमणिका

नये हस्ताक्षर

कहानियां

कविताएं

स्थायी स्तम्भ

———

अपनी बात



शीराज़ा का प्रस्तुत अंक समर्पित है उन प्रतिभाओं को जिनके कंधों पर भविष्य टिका हुआ है। जीवन का नियम है कि पुराना अधिक दिनों तक टिका नहीं रहता और न ही कोई प्रतिभा इतनी शक्तिशाली होती है कि वह सदैव अपना लोहा मनवाती रहे। पानी की एक लहर को, वह कितनी भी बलशाली क्यों न हो, दूसरी लहर के लिए स्थान छोड़ना होता है और यह सिलसिला दूसरी के बाद तीसरी और फिर और और लहरों तक चलता ही जाता है। साहित्य में तो यह स्थिति और भी गंभीर अर्थ ग्रहण कर गई है।

सम्प्रति जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एक अजब ठहराव सा आया हुआ दिखाई देता है। स्थापित प्रतिभाएं नया कुछ दे नहीं पा रही हैं बल्कि यह कहना अधिक समीचीन होगा कि अब अतीत के गौरव के रूप में ही उनका महत्त्व ज्यादा आंका जाता है। इधर पिछले दो-तीन दशकों में जो प्रतिभाएं सामने आईं वे उठा-पटक की राजनीति की कुछ इस प्रकार शिकार हुईं कि एक-दो दशक में ही वे इतिहास के उपयोग की होकर रह गईं। इस दृष्टि से यदि देखें तो यह कहना अनुपयुक्त नहीं लगेगा कि हम एक संक्रमण-काल से गुज़र रहे हैं जिसमें नई से नई प्रतिभाओं को अवसर देने की जिम्मेदारी **शीराज़ा** जैसी पत्रिकाओं को निभानी है। इन हस्ताक्षरों की कलम में वैसे दम-खम शायद अभी नहीं हैं जो एक लम्बे रियाज़ के बाद पनपते हैं तो भी ये हस्ताक्षर अपनी सर्जनात्मक ललक और सूझ-बूझ की गवाही अवश्य देते हैं। आज प्रकाशन के क्षेत्र में फैले बड़े नामों के आतंक ने इस प्रकार की प्रतिभाओं को ढक लिया है। परिणाम यह हो रहा है कि लोग हिन्दी जैसी भाषा का दामन झटक कर उन भाषाओं की ओर लपक रहे हैं जहां समय, स्थान और सुविधा की दृष्टि

से उनके लिए अवसर कहीं ज्यादा हैं। आवश्यकता इस बात की है कि इन लेखकों की ऐसी कमियों के लिए जो शिल्पगत और कथ्यात्मक दोनों स्तरों पर हो सकती हैं, रियायत दी जाये और उन्हें यह अवसर दिया जाये कि लिखे हुए शब्द का छपे हुए शब्द से जो अन्तर होता है उसकी वे स्वयं पहचान कर सकें। इस अन्तर की पहचान उनकी कलम को परिपक्व बनायेगी। मैं यह दावा तो नहीं करता, करना भी नहीं चाहता, कि इस अंक में प्रकाशित तमाम नए हस्ताक्षर हिन्दी के लिए वरदान साबित होंगे या कि वे सबके सब श्रेष्ठ साहित्य की रचना करने में सफल होंगे ही तो भी उनको आज़माना तो होगा ही। इनमें से एक भी यदि सही लेखन के मर्म को पकड़ लेता है तो मैं समझता हूँ कि इसे इस अंक की अभूतपूर्व सफलता माना जा सकेगा।

अकादमी ने एक योजना बनाई है जिसके अंतर्गत प्रति वर्ष शीराज़ा का एक अंक इन नई प्रतिभाओं को समर्पित किया जायेगा। हमारा प्रयत्न यह रहेगा कि इनकी रचनाओं को ज्यों का त्यों प्रकाशित कर दिया जाये ताकि पाठकों की आलोचना के बीच में से ये नये हस्ताक्षर अपना रास्ता खोज सकने में समर्थ हो सकें। इसी संदर्भ में हमारा यह नम्र निवेदन है कि आप इस अंक में प्रकाशित नए लेखकों की रचनाओं पर विस्तार से लिखें ताकि जिनमें सम्भावनाएं हैं वे अपनी दशा-दिशा को पहचान कर आपकी टिप्पणियों से लाभान्वित हो सकें और भविष्य में साहित्य-रचना करते समय रचनाधर्मिता के आधुनिक तकाज़ों को पूरा कर सकें।

—रमेश मेहता

कहानी

बाघ

—महाराज कृष्ण शाह

आज भी उसे वैसी कोई आवाज़ सुनाई देती तो वह दोनों कानों में उंगलियां डाल कर सब कुछ अनसुना करना चाहती। हवा का ज़रा भर भी तेज चलना और पत्तों का हिलना उसे और भी बेकरार कर देता—जाने क्यों इनकी सरसराहट किसी पुरानी बात को दोहराती सी लगती। वह अपने आपको थकी हुई और टूटी हुई महसूस कर रही थी—इसलिए बहुत देर तक सो जाना चाहती थी—किन्तु हर पल वह अपने आपको किसी विचार से आक्रांत पाती। अपने लिए उसके पास कोई भी व्यस्त रहने लायक काम न था—सिवा इसके कि वह सोचे—सोचती रहे—चाहे धूप सुहावनी हो या पूस की ठंड—वह नहीं चहती किसी को पता चले उसने जान लिया है कि आखरी कदम तक सफ़र नया और आदमी पुराना ही रहता है—आदमी अपना पुरानापन अपना बासीपना किसी ओर ठेल देना चाहता है पर हर बार वह उसकी राह में दीवार बनकर आता है।•••

तभी तो, यह दीवारें कितनी बदल चुकीं इस घर की ; फिर भी इनसे आज तक वो गंध नहीं गई, 'दरअसल मैं ही ग़लत थी, बस एक पड़ाव को मंज़िल समझती रही, ओफ़ ! कितना चलती आयी मैं ··?"

वह सचमुच दौड़ी थी। बहुत तेज़। उसे फिर भी पिछड़ना पड़ा, क्यों ?

उसकी दौड़ पिछड़ेपन से उपजी एक ऊबड़-खाबड पगडंडी से आरम्भ होकर विस्तृत बीहड़ों में भटक चुकी थी और आंखें बराबर जनपथ तलाशती बुझ सी गई थीं—वह आंखें बन्द किए घुटनों में सर रख कर कमरे में बिछी टाट पर विस्मृत सी पड़ी थी- पास पड़ी चारपाई से कुछ चरमराहट सी हुई उसमें कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई—चारपाई पर लेटी अधेड़ स्त्री ने मुंह से हलके से चादर हटा कर एक बार राज को देखा—फिर उसांस भर कर सिरहाने में मुंह छिपाया। एक बार फिर धीरे से सर उठा कर राज को देखा—और अंततः क्षीण आवाज़ में पुकारा—"राज !"

राज ने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की—मां उसी प्रकार बोलने लगी, "वहां क्या सुन्न सी पड़ी है, यहां मेरे पास आकर बैठ जा।" राज बिना किसी उत्तर के चीथड़ों में लिपटी बीमार मां को एकटक देखती रखी—सूखी गहरी गुफाओं सी आंखें, मां राज की आंखों के बुझे स्वप्न से परिचित थी—कुंवारी का स्वप्न•••एक जिन्दगी बनाने का स्वप्न। राज उठकर मां के समीप चली गई। मां ने अपनी सूखी प्राणहीन उंगलियां राज के बालों में डालने का प्रयत्न करते पूछा—

"तुम उदास हो राज ?"

"हां" राज ने ठंडा सा जवाब दिया।

"क्यों ?"

"क्योंकि रोज़ ऐसा प्रश्न पूछना ही उदास बना देता है। तुम्हारा आराम करना बहुत आवश्यक है मां।"—मां सोचती, "कितना सच कहती है राज, मेरे सदा के लिए सो जाने से इसे छुटकारा तो मिलता।" दूसरे ही क्षण वह कांप उठती, "नहीं, नहीं मैं राज को अकेला नहीं छोड़ूंगी•••मेरे आंखें मीचते ही यहां कुत्ते आकर मुंह साफ करना शुरू करेंगे न जाने कितने इसी आशा से इर्द-गिर्द दुम हिलाते नजर आते हैं ··पता तक न चलेगा—कब काट खायें। मेरी बच्ची बहुत नासमझ है अभी"—मां ने एक बार फिर राज की आंखों में देखा, भयंकर अंधेरी आंखें—मां की अपनी आंखें दिनोंदिन सिकुड़ती जा रही थीं, पानी की हल्की सी धार पलकों के कोणों पर रुकी सी दिखाई देती—सबसे अधिक परेशानी राज को तब होती जब कोई मां के स्वास्थ्य की खबर पूछने उनके घर आता। मां की निस्बत राज को लेकर ही अधिक बात चलती—'बेचारी के खोटे कर्म! बाप का साया न उठता सर से, अभी तक हाथ पीले होकर किसी घर की शोभा बनी होती•••गंवार भी नहीं है—पूरी चौदह जमातें पढ़ी-लिखी •••पर, उसके लिखे-पढ़े को कौन टाल सकता है ?" यह फिज़ूल की बातें राज को सोचने पर मजबूर करतीं। उसका सिर चकराने लगता। वह सोचती, महामारी फैली न भयंकर अकाल पड़ा फिर भी अचानक इस घर को इन कुछ वर्षों में ही यह क्या हो गया ? भरपूर परिवार को कौन सा बाघ खा गया ? उसे लगा जैसे उनके प्राणों को वह बाघ अपने पंजों में उछाल रहा है उन्हें न खाता है न मार डालता है।

कुछ ही वर्ष पूर्व यही परिवार था—हंसता-खेलता—पुरानी स्मृतियों को मां की सिहरती देह दोहराती तो वे दिन उतने हंसते खेलते न लगते—कसमसाहट और उमस की दुपहरी में कहीं-कहीं छायाओं के धुंधले आभास से देखने में आते। राज की सूखती देह का रेशा-रेशा अपने विगत की हरियाली की पनप को दोहराता—जो अब सड़ी घास की तरह दयनीय हो चुकी थी—जिन अभावों में राज पली-बढ़ी, वे आज कुछ न लगते यदि उनका स्थायित्व इतना निश्चित और लम्बा न होता—किन्तु वे सुख के छोटे-छोटे क्षण•••। उन मांसल क्षणों को वह टुकड़ा-टुकड़ा चबाना चाहती—वह दुर्लभ क्षण! जिनको बून्द-बून्द संचित कर उसने

भिखारिन की तरह अपनी स्मृति की फटी पुरानी झोली में किसी अनमोल पूंजी की तरह संभाले रखा है।

…उसकी डायरी के वे मैले घिसेपिटे पृष्ठ जो अनेक ऐसे फ़ूहड़ नगमों से भरपूर हैं जिन्हें वह मदमस्त गायक उसे वसन्त की झनझनाती तानों पर गा-गा कर सुनाता—उन गीतों को आज पढ़ कर क्यों अजीब सी बेचैनी होती है ? क्यों वह बचकाने गीत उसे बहुत परेशान करते हैं ··

'तुम्हारे लिए हूं···
भरपूर तुम्हारा ··
देखो तो क्या हूँ
हवा की बस एक छुअन हूं'

सचमुच ! हवा की मात्र एक छुअन···सब बचपना·· कोरी भावुकता—तो इसके बाद ? आज तक की ज़िन्दगी में क्या अहम घटा ? कितना बड़ा है इस ज़िन्दगी का जायज़ा ?·· यह कमरा और कमरे की संक्षिप्त सी वस्तुएं, आंगन से गुज़रती पगडंडी, फिर स्कूल को जाती सड़क और पांच मील की दूरी पर कालेज में दम तोड़ती महत्वाकांक्षाओं के तीन वर्ष—फिर वापिस घर इसी कमरे में एक कारावास सा भुगतती मात्र एक लड़की होने की सज़ा ? किन्तु लड़कियां तो वे भी थीं—वे चन्द एक—जिन्होंने खुद राज की प्रतिभा का लोहा माना था—पर किस कारण से वे सब उससे बहुत आगे निकल गईं—?

क्या कारण है ?···

—है, इस हार की कालिख से पुती यह दीवारें और दारिद्रय—यह कि वह एक मेहनत करने वाले बाप की अभागी बेटी है, जो रोग-ग्रस्त होकर भी आखरी सांस तक काम में कोल्हू के बैल सा जुता रहा—और अंत में कमज़ोर पड़कर उस बाघ का शिकार हुआ जो उसे हर कदम पर सुरक्षा का वादा देता था और वास्तव में उसे अपनी सत्ता के इतिहास के और संस्कृति के आवरणों में छिपे नृशंस पंजों से धीरे-धीरे चीरता रहता था। और एक दिन अंततः उसे खा गया था।

मां बाघ को पूजती है ··उसे महान् शक्ति समझती है—अपने स्वस्थ होने की उससे कामना करती है···और राज ? राज को अंधेरे में अचानक उसके खूनी पंजे और आदमखोर मुंह याद आता है और वह चिल्लाती है—मां··· ! मां अधखुली आंखों अपने बिस्तर के करीब राज को टटोलते हुए कहती है, 'मैं ज़िन्दा हूं बेटी '

राज को विश्वास नहीं होता है, बिस्तर से उठ कर मां के करीब जाकर उसकी नाड़ी पकड़ कर देखती है, फिर उसके माथे पर हाथ फेरती है, उसे चूमती है—अंधेरे में फटी आंखों से कुछ तलाशने लगती है। अचानक उसके हाथ बन्ध जाते है और वह किसी अज्ञात भय से कांपने लगती है—मां कहती है, "सो जाओ मैं स्वस्थ हूं"—स्वस्थ और अस्वस्थ का अन्तर लगता—जब परिस्थिति काबू से बाहर हो जाती तो मां अस्वस्थ होती—जब वह काबू कर

पाती —जब पीड़ा हद से गुज़र कर भी सिर्फ इसलिए पीड़ा नहीं रहती कि वे आदी हो गए होते तो अस्वस्थ को स्वस्थ कहने में कोई फर्क नज़र न आता। राज मान जाती मां स्वस्थ है इसलिए सो जाती, और उसका स्वप्न···सिरहाने का गीला और गालों से चिपका हुआ फटा लिहाफ ··। उसे कोई नींद में पुचकारता ''पगली रोती है तू ही तो कहा करती थी, ऐसी ज़िन्दगी से अच्छा है आदमी मर जाये, पापा !'

तो पापा मर गए ! तब इस घर की दीवारों से यह बरसों पुरानी पापा के शरीर की सी गंध क्यों चिपकी हुई है ? हल्के-हल्के पत्तों की सरसराहट से क्यों पापा के अन्तिम अस्पष्ट शब्द कानों में गूंजने लगते हैं—'बेटी मैं जियूंगा···ऐसे छोड़ के थोड़े ही जाऊंगा तुम्हें··· तुम्हारे हाथ पीले करने हैं " और वह जीवनाभिलाषी फटी आंखों से पतझर में चिनारों से झरते पत्तों की चाप सुनते ही किसी शिशु की भांति सहम उठता—जैसे एक-एक पत्ते का गिरना मौत की निकटता का अहसास दिलाता हो—राज यह सब भूल जाना चाहती कुछ तो नया हो, कुछ ऐसा जो यह अतीत उससे छुड़ाये · इसी प्रतीक्षा में एक रोज़···

सारा गांव सहमा हुआ लग रहा था– चारों ओर मौत का सा सन्नाटा—किसी-किसी जगह से एक अजीब सी फुसफुसाहट इस भयंकर मौन को और भी भयावह बना देती—हर जगह से एक साज़िश की सी बू आ रही थी। सब पर बाघ का भय छाने लगा था···गहराने लगा था। किसी को नाखून से खुरचता—कइयों को पंजे से छीलता और अधिकतर को अपने मुंह का ग्रास बनाता वह बकता चला जा रहा था—कुछ लोग बाघ को पूज कर प्रसन्न करते तो कई डर कर भक्ति जताते किन्तु मन ही मन सभी उससे छुटकारा पाना चाहते। एक रोज़ मां बहुत उदास होकर राज से कहने लगी, ''तू डरती क्यों है बेटी·· पूजा किया कर थोड़ी सी, सारा डर भाग जायेगा।'' राज मां की पूजा और 'पुजारी' की पूजा का अन्तर समझती थी—वह सोचती कितनी भोली है मां, फिर भी खामोश रहती ··

···तो सभी ग्रामवासी सहमत हुए—''बाघ एक खतरनाक जानवर है हमारा जानी-दुश्मन, इसे मारा जाये पर कुछ लोग जो बाघ के आतंक को एक दैवी प्रकोप समझते थे, इस प्रस्ताव का विरोध करने लगे—लेकिन चूंकि अधिकांश लोग बाघ के ज़ुल्म से तंग आ चुके थे इसलिए सभी ग्रामवासी बाघ को मारने का तहैया कर चुके थे ·

इस बात को सुनकर राज़ बहुत खुश थी। मां को बहुत दुःख हो रहा था, लोगों को हो क्या गया है ? ऐसी पवित्र शक्ति का विनाश···वह बाघ को धार्मिक शक्ति ही नहीं जीवन संरक्षक समझती थी और बाघ ? निश्चिन्तता ऐसी कि किसी स्थिति की परवाह किए बगैर बहुत मस्त होकर सो रहा था। अपार जन-समूह उमड़ आया था। बाघ की आंखें खुलीं। उसने एक बार सारी भीड़ का जायज़ा एक नज़र दौड़ा कर लिया। फिर अपनी जगह मन ही मन मुस्काते हुए अपने पंजे चाटने लगा—बाघ न दहाड़ा और न कोई प्रतिक्रिया दिखाई। कुछ लोग जो बाघ को वाकई मार सकते थे, बाघ के पास पहुंचे। बाघ ने पुरखों से हासिल की

हुई कुछ खाल, कुछ बाघछाल उनके हाथ में सौंपते हुए कुटिल मुस्कान से देखा—वे लोग विजयी मुद्रा में क्रुद्ध भीड़ के आगे ज़ोर-ज़ोर से बोलने लगे, 'शांत हो जाओ भाइयो! हमारा विश्वास सच निकला—बाघ अहिंसा का पुजारी है—वह आपकी शक्ति का सम्मान करता है। उसके लिए इतना प्रमाण काफी है कि उमने आप से न्याय की आशा की है···हमें आशा है उसके तुच्छ प्राण लेने से हम अहिंसावादियों को कोई लाभ न होगा—आज से वह हमारी देखरेख में रहेगा।''

सब ओर शान्ति और सन्नाटा सा उतर आया था—लोग कुछ निश्चित नहीं कर पा रहे थे—राज दान्त पीस रही थी। मां बीमार होकर भी यह दृश्य देखने लाठी टेकती पहुँच गई थी —उसका पक्का विश्वास था कि बाघ को कोई नहीं मार सकता—सभी अनमने भाव से घिसटते पैरों घर लौट आए थे।

राज फिर मां के पास आकर बैठ गई— बैठे-बैठे उसकी आंख लग गई। उसने देखा सारा ही गांव भयावह स्थिति में किसी अनिश्चित दिशा में भाग रहा है—लोगों को किसी चीज़ की सुध-बुध नहीं—वह सिर्फ हांप रहे हैं और भागते जा रहे हैं और उनके पीछे वही लोग जो बाघ से खाल और बाघछाल प्राप्त कर चुके थे··बाघ बने उनका पीछा कर रहे हैं—राज इस सारी स्थिति से घबरा कर चीखने को हुई···उसकी आंख खुली और वह ज़ोर से चिल्ला उठी, 'मां'!·· किन्तु मां गहरी नींद में सो रही थी···।

—

विशेष लेख

रंगधर्मिता : यात्रा के आदिम आयाम

—डॉ० चन्द्रशेखर

हिरण्य गर्भ : वह आदिम शिला-खण्ड

मानव में जन्मना रंगचेतना है और रंगधर्मिता उसकी सनातन वासना है। जीवन के विभिन्न रागात्मक आसंगों में यह निसर्ग रंग-संस्कार एक विशिष्ट रंगानुभव बनता है जिसमें विविध रंग-राशियों का अंतर्लयन रहता है। रंग-सर्जन की प्रक्रिया में इन्हें रंगसिद्धि मिलती है और मानव इस प्रक्रियात्मक बिन्दु पर रंगारोपण करता है जो अनिवार्यत: मंच सापेक्षी है। यही रंगारोपण उसे रंगकर्मी बनाता है। रंगकर्मी होना ही एक प्रकार से मंचान्वेषण का समारंभ है जो अंततोगत्वा उसे किसी न किसी रंगानुष्ठान में नियोजित करता है। उसकी समस्त रंगचेतना, रंगबोध, रंगसंस्कार, रंगधर्मिता, रंगशीलता, रंगारोपण मिल कर मंच की खोज करते हैं तथा उसे खोज निकालते हैं। कोई भी रंगानुष्ठान इसी खोज की शुभ उपलब्धि रहती है, और इसी क्षितिज से मंच उदित होता है। रंगायोजन के हिरण्य-गर्भ से मंच का जन्म होता है। यह रंगचेतना की मंच तक एक प्रक्रियात्मक यात्रा है। रंग-संस्कार की रंगसिद्धि है। रागात्मक आसंगों से उपलब्ध रंगानुभवों, रंग-राशियों का सर्जनशी : संयोजन है। रंगारोपण का रंगमंच पर रंगावतरण है . इसी प्रक्रियात्मक भूमिका से मंच के व्यक्तित्त्व का अन्वेषण आरंभ हुआ माना जा सकता है।

आदिम रंगधर्मिता कैसी होगा ? इस प्रश्न से जूझने के लिए आदिम-मानव, मानव-समुदाय से संवाद जोड़ना होगा। उसमें रंगचेतना रही होगी तथा रंगधर्मिता की सनातन वासना भी उसमें बराबर गमकंती रही होगी, जो उसके आदिम जीवन के विविध रागात्मक आसंगों में सहसा किसी सर्जनशील रंगकर्म के रूप में अभिव्यक्त हो गई होगी। आदिम नाटक का जन्म ऐसे ही हुआ होगा। उसकी मांचिक-अभिव्यक्ति का भी कोई स्थल रहा होगा, जहां उसने अपने किसी रंगशील साक्षात्कार को पुन: जीवंत मुद्रा में प्रस्तुत किया होगा।

आज के तथाकथित सम्पन्न रंगमंच के व्यक्तित्त्व की खोज उसी आदिम-मंच से आरंभ करना समुचित होगा। वह आदिम-मंच आदिम-मानव के किन रागात्मक आसंगों, रंग संस्कारों से उद्भूत हुआ होगा? उसके रंगानुभूति, नाट्यानुभूति के साक्षात्कार कैसे रहे होंगे? इन प्रश्नों की विचारणा में आदिम-मंच के बीज विद्यमान हैं। यह बात प्राय: निर्विवाद ही है कि म नव में निसर्गत: अनुकरण, आत्म-विराटीकरण की सनातन वासनाएं हैं। पूर्णतया आत्मचेता होने से पूर्व ही मानव ने इसका सुखद आस्वादन किया होगा। उसके नाट्यानुभवों के साक्षात्कार उसके प्रारंभिक जीवन के अनेक आयामों से जुड़े होंगे। कंदराओं में सामूहिक जीवन, प्राकृतिक प्रकोपों से संघर्ष, कंद-मूल की खोज, वन्य पशुओं से भिड़ंत, एक हिंसक पशु को किसी दूसरे का मांस खाते देख स्वयं मांस-भक्षी बनना, कच्चा-पक्का मांस खाना, नग्न अर्धनग्न अवस्था में जंगलों में भटकना, श्रम से चूर होकर शीतल शिलाओं पर विश्राम करना। इन्हीं साक्षात्कारों में उसकी संवेदना के विविध स्तर जगे होंगे। उसके बज्र-वक्ष के भीतर भावप्रवणता का स्पंदन हुआ होगा। उसकी क्रूर, निर्मम, हिंसक प्रकृति ने जीवन के कोमल तत्त्व का संस्पर्श अनुभव किया होगा। किसी स्वच्छ निर्झर का उन्मुक्त नाद उसे मुग्ध कर गया होगा। पक्षियों के कलगान का वशीकरण अनुभव किया होगा और मयूर की नृत्य-मुद्राएं उसे मंत्र कीलित कर गई होंगी। हवा के भीने झोंके से उसने स्वयं को सर्वथा संवेदित, आंदोलित अनुभव किया होगा। उस भाव-विभोर-अवस्था में उसका अंग अंग थिरक उठा होगा। कंठ से एक नाद-स्रोत निसृत हुआ होगा। जंगल के किसी निभृत एकांत में किसी शिला-खंड पर उसने इन रागात्मक आसंगों का आस्वादन किया होगा। वही शिला-खंड आदिम मंच है। उसी पर उस आदिम मानव ने नाट्यानुभूति का साक्षात्कार किया। उसी पर उसके रागात्मक आसंग प्रत्यक्ष हुए और उसी पर एक स्वत:-जात स्थिति में प्रथम रंगकर्म अनुस्यूत हुआ। यहां से मंच और रंग-धर्मिता का समुदय मानना समुचित प्राय होगा।

'एकोऽहं बहुस्याम'' : सृजनशील साक्षात्कारों का रंगानुष्ठान

ब्रह्म की यह संकल्पना सृजन-संगर्भिता है, और यह विश्व उसके रचनात्मक साक्षात्कारों का रंगानुष्ठान है। उस सूत्रधार के निर्देशन में इस विश्व-मंच पर आए दिन रंगोत्सव आयोजित हो रहा है और प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी भूमिका को अभिनीत कर रहा है। रंगभूमि पर भूमिकाएं चुक जाने पर नेपथ्य में जा रहा है और नए रंगाभिनय के लिए रंगभूमि में उतर रहा है।

उस दिन (?) उस आदिम शिला-खंड पर किसी आदिम-मानव ने अपने निविड़ एकांत में अपने किसी रागात्मक आसंग को प्रस्तुत किया था। अपनी सृजनशीला नाट्यानुभूति के अपने में अवतरित होने पर एक प्रक्रियात्मक बिन्दु पर उसने उसका पूर्ण रंगारोपण अनुभव किया था। तब सृजनावेश से सर्वथा अभिभूत होकर अपने रंगानुभव की तीव्रता सहित उसने

स्वयं को उस शिलाखंड पर एक रंग-कर्म में तत्पर पाया था। यह उसका एक प्रकार का रंगावतरण था। एक आदिम रंगानुष्ठान था, आदि रंगपर्व था।

उपर्युक्त रंगावतरण में आदिम मानव को परितोषात्मक उपलब्धि क्या रही होगी? निश्चित ही उसे अपने रंगानुभव का रंगकर्म में परिणत होना आस्वाद्य लगा था। उसके निभृत एकांत का मौन टूटा था, निस्संगता खंडित हुई थी, निस्तब्ध जड़ता चूर हुई थी। वह रंगकर्म मात्र अनुकरण नहीं था, प्रत्युत एक जीवंत नाट्यानुभव था, एक संरचनाशील रागात्मक आसंग था, जो बार बार अपनी पुनर्रचना के लिए उसे प्रणुदित करता था। अत: उस अत्याग्रही जीवंत क्षण के रंगशील होने पर उस आदिम मानव ने अपना यत्किंचित आत्मपरिष्करण तो अनुभव किया ही था, साथ ही आत्म-विस्तार भी अनुभव किया था। इसी स्थिति ने उसे बार बार रंगकर्मी बनने के लिए, विभिन्न शिलाखंडों, पर रंगावतरण के लिए संप्रेरित किया था, रंगानुभूतियों के मंचन की प्रक्रिया इसी अक्ष पर गतिमान होती आई है।

रंगानुष्ठान की प्रक्रिया प्रकारांतर से "**एकोऽहम् बहुस्याम**" की ही प्रक्रिया है। इस अनुष्ठान में आदिम मानव ने जहां स्वयं को जोड़ा, अपने अनेकविध रंगानुभवों को एक संश्लिष्ट इयत्ता में संयुक्त किया, अपनी खंडश: विभक्त, विभाजित नाट्यानुभूतियों को एकस्थ किया, ऐसा करने के रंगशील प्रयत्नों में स्वयं को एकस्थ किया, वहां उसने स्वयं को और से जुड़ा हुआ भी अनुभव किया। रंगधर्मिता ने उसके और अन्य के मध्य एक सेतु निर्मित किया। उसने पाया कि उसकी रंगधर्मी गतिविधियां उसे व्यापक संपर्क में तो प्रतिष्ठित कर ही रही हैं, प्रत्युत साथ-साथ उसे एक संस्कारित सामाजिकता से भी अभिषिक्त कर रही हैं, वह उत्तरोत्तर सभ्य, सामाजिक और सुसंस्कृत होता जा रहा है। निश्चित ही रंगसर्जन और रंगानुष्ठान ने आदिम-मानव और मानव-समुदाय को सामाजिकता की दीक्षा दी। रंगपर्वों ने बराबर दीक्षा-दान दिया यह सर्वथा अविवाद्य ही है।

रंग-प्रक्रिया की तुरंत अपेक्षा रही है ···किसी सर्जनशील रंग-संयोजना द्वारा नाटकीय रंगानुभवों का आवेदन। रंगकर्म जहां निसर्गत: मंचधर्मी है वहां अनिवार्यत: संप्रेषणधर्मी भी है। संप्रेष्यता के अभाव में वह "एकोऽहं बहुस्याम" की प्रक्रिया से विच्युत हो जाएगा। क्योंकि रंगानुभूति की अभिव्यक्ति मंच की मुखापेक्षी है, और मंच से आवेदनशीलता का अनुरोधात्मक निवेदन रहता है, अत: रंगकर्म का संप्रेषण से विच्छेद उसका पक्षाघात है, जो उसके लिए आगे चलकर आत्महंता भी सिद्ध होने लगता है। रंग-सिद्धि के लिए संप्रेष्यता एक तपोनिष्ठ साधना है। रंग-सिद्धि का तात्पर्य ही रंगानुभव की व्यापक संपर्क में संप्रेषणा हैं। रंगानुभव मंच पर रंगशील मानव से मुक्ति पाता है और संप्रेषित होकर मंच से मुक्ति पाता है। यदि भोक्ता से रंगानुभव की मुक्ति रंगपर्व है तो मंच से उसकी मुक्ति रंगसिद्धि है। इसे "एकोऽहं बहुस्याम" की प्रक्रिया-जन्य परिणति माना जा सकता है।

उपर्युक्त प्रक्रियात्मक आग्रहों-अनुरोधों और स्वतः-स्फूर्त रंगकर्म के संदर्भ में कहा जा सकता है कि आदिम मानव आत्मसंयोजन की प्रबल-ऐषणा से मंचधर्मी बना और सामाजिक संपर्क-लाभ की बलवती कामना से इसके विकास के लिए उद्यत हुआ। सृजनशील साक्षात्कारों के रंगानुष्ठान से उसने आत्मपरिष्करण भी किया और आत्म-विस्तार भी। रंग-सिद्धि से उसने स्वयं को अपने से जोड़ा और फिर स्वयं अपने को अपने परिवेश से जोड़ा। प्रत्येक रंगानुष्ठान एक ओर उसके विविध राग-रंगों का सृजनात्मक रंग-संयोजन है दूसरी ओर संभावित रंग-पर्वों, रंगोत्सवों की रंगशीला भूमिका भी है, रागात्मक आसगों की सृजनवत्ता को विदोहित करने का रचनात्मक अभियान भी है। यहां यह मानना संगत ही होगा कि ऐसे रंगायोजनों से ही मंच-रंगधर्मिता और मंचन-व्यापार के व्यापक विकास-आयाम खुलते आए हैं।

कस्मै देवाय (?) : सामुदायिक सहभागिता और कलात्मक सहयात्रा

सृजन के एक शुभ मुहूर्त में उस शिला-खंड पर, आदिम-मानव ने अपने किसी रागात्मक आसंग से प्रणुदित होकर एक स्वत:-स्फूर्त मुद्रा में अपने में रंगारोपण पाया और एक मंत्र-चालित स्थिति में वह रंगकर्मी बन गया। रंगारोपण और रंगकर्म के ये सृजनशील क्षण उसमें बराबर मूर्त होते रहे और किसी न किसी उत्थापित भू-खंड किंवा शैलांचल पर वे साक्षात होते रहे। प्रारंभिक मांचिक मुद्राओं में जहां उसे अपार आत्मानंद मिला वहां निसर्गतः "कस्मैदेवाय" की प्रवृत्ति भी उसकी अंत:प्रक्रिया में विद्यमान रही। उसके प्रारंभिक रंगा-रोपण-रंगकर्म किसी निभृत एकांत में मूर्तिमान हुए थे। एक दिन उसके किसी संगी ने सहसा उसे रंग-कर्म में लीन पाया और वह मंत्र-सम्मोहित सा उसे देखता ही रह गया। वह रंगकर्म पूरा होने पर उसने उसकी प्रभूत प्रशंसा की। वह आदि रंगकर्मी प्रफुल्ल हो उठा और उसके आगे "कस्मैदेवाय" की दिशा खुलने लगी। उसने माना कि वह अपने रंगकर्म में निपट अकेला नहीं। किसी अन्य के समक्ष रंगकार्य और अधिक सार्थक होता है। उसका रंग-प्रदर्शन मात्र आत्मापेक्षी नहीं प्रत्युत परापेक्षी भी है। उसका पर-दर्शन और परापेक्षण उत्तरोत्तर अपना महत्व सिद्ध करता गया।

इसी बिन्दु पर रंगकर्म और मंचधर्म में सहभागिता आरंभ होती है जो आगे चलकर संपूर्ण रंगानुष्ठान में सामुदायिक सहभागिता बन जाती है। यह सब एक साथ नहीं हुआ, प्रत्युत इसकी विकासिक प्रक्रिया का रथ-च शनैः-शनैः गतिमान रहा। प्रारंभ में सहभागिता मात्र एक व्यक्ति तक रही। उस एक व्यक्ति ने नयनों के इस आनंदोत्सव के आस्वादन की चर्चा अपने अन्य संगी-साथियों से की। एक दिन रंगकर्म में लीन उस रंगकर्मी ने पाया कि उसके बहुत से साथी एक भाव-विभोर मुद्रा में उसका रंग-प्रदर्शन देख रहे हैं। इस प्रकार उनसे प्रशंसित होकर न केवल उसका रंगोल्लास ही अभिवर्द्धित हुआ प्रत्युत वह एक व्यापक संपर्क में प्रतिष्ठित भी होने लगा।

दर्शक की सहभागिता आगे बढ़ी। वह मात्र दर्शक न रहकर मंच पर भी उसका सहभागी बनने लगा। रंगकर्म के चरम आस्वादन के क्षण में किसी एक दर्शक ने अपने

किसी रागात्मक आसंग को अपने में मूर्तिमान होते पाया। वह उल्लास में नाचता हुआ वन्य-शिलाओं के मंच पर जा पहुंचा और उस रंगकर्मी के रंगकार्य में सहभागी बन गया। मंच पर हो रहे रंगानुष्ठान में एक एक व्यक्ति की सहभागिता एक दिन पूरे समूह की सहभागिता बन गई। प्रफुल्लावस्था में बहुत से दर्शक ताली बजाते मंच पर पहुंचे और चल रहे रंगायोजन में संयोजित हो गए। समूह-गान, समूह-नृत्य इसी प्रकार की सामुदायिक सहभागिता के परिणाम हैं। रंगकर्म और रंग-प्रेक्षण का यह अभेद रंगपर्व है।

किसी निभृत एकांत में उस शिलाखंड पर हुआ वह रंगावतरण एक सहज प्रक्रिया में "कस्मैदेवाय" को समर्पित होता गया। धीरे-धीरे इसका स्वरूप और दिशाएं स्पष्ट होती गईं। प्रारंभिक सहभागिता एक दर्शक की थी जो कालांतर में समूह की सहभागित: बन गई, और अंततोगत्वा रंगावतरण तथा रंगकर्म की भी। इस प्रकार रंगानुष्ठान एक कलात्मक सहयात्रा का चरित्र धारण करने लगा।

विविध रंगोत्सवों की उपर्युक्त कलात्मक सहयात्रा में जहां रंगारोपण के विविध आयाम उद्घाटित हुए, रंगकर्मी और रंगदर्शक के आपसी संबन्ध स्थापित हुए, वहां मंच और नाटक का चेहरा-मोहरा भी उतरा। इस समय तक एक प्रकार का मुक्ताकाशी भ्रमनशील मंच स्थापित हो चुका था, जो रंग-सृजन की समृद्ध उर्वरात्मक संभावनाओं से संगर्भित था।

मानव-सभ्यता के प्रारंभिक चरणों में ये मुक्ताकाशी मंच विभिन्न कुनबों-कवीलों के मनोरंजनार्थ घूमा करते थे। इनमें शौकिया रंगकर्मी भी रहे होंगे। परन्तु साथ ही यह रंगकार्य आजीविका से भी संबद्ध होने लगा होगा। त्योहारों, ऋतुपर्वों, उत्सवों और हर्षोल्लास के अवसरों पर ये मुक्ताकाशी मंच निरंतर रंग-संयोजनाएं प्रस्तुत करते गए। रंगधर्मिता बराबर विकसित होती गई।

अश्वत्थ: सर्ववृक्षाणाम् : लोकधर्मी रंगचेतना का अक्षय-वट :

रंगचेतना संस्कारत: अश्वत्थमूला है। जनमानस में इसकी जड़ों का शत-शत योजनांतक प्रसार रहता है और जन-जीवन में इसके स्कंध, तने-प्रतने, शाखाएं-प्रशाखाएं सदा जीवंत रहते हैं। जनमानस से रागात्मक आसंग, रंगानुभव और मंचधर्मी सृजनशील-साक्षात्कार इसके उपजीव्य हैं। यही रंगचेतना सांस्कृतिक धरातल पर नाटक बनकर अश्वत्थवंशी अक्षयवट के रूप में ऊर्ध्वंगादिक्गा विस्तार पाती है। विश्व के विभिन्न खंडों में आदिम मानव ने असभ्यता के उस प्रालेय महा-अर्णव का संतरण ऐसे ही अक्षय-वट-पत्रों से किया। उसका एक-एक पत्र संतरण-यात्रा से जुड़ा है। इसीलिए मानव की रंगधर्मी-मंचशीलता का विकास-चक्र उसकी संस्कृति और सभ्यता के स्तंदस चक्रों से जुड़ा है। यही उसकी सह रंग-यात्राएं हैं।

उपर्युक्त सह-रंगानुष्ठानों, सह-रंगायोजनों की अनेक विशद परिणतियां रही हैं :

उन रंग-प्रदक्षिणाओं में मंच, वेशभूषा, संवाद, अभिनय, कार्यव्यापार सोद्देश्यता, निर्देशक-सूत्रधार—ये सब एक प्रक्रियात्मक उभार प्राप्त करते है। ऐसा नहीं कि एक-एक का अलग-अलग विकास होता है, प्रत्युत ये सब एक साथ अभ्युदित होने लगते हैं।

आदिम मानव के प्रारंभिक रंगावतरण उस एक शिलाखंड तक ही सीमित नहीं रहे। जैसे-जैसे रंगकर्म में विस्तार होता गया, उसकी प्रकृति और आकांक्षा के अनुरूप नए-नए और विशाल शिलाखंडों की खोज होती गई। बड़े-बड़े शैलांचलों के अनुकूल न होने पर उसने अनेक शिलाखंडों, सुघड़ सुडौल शैलांशों से आवश्यकतानुसार मंच उत्थापित किया। शिला-संयोजन में मिट्टी-गारे का प्रयोग भी किया गया। वस्तुतः मंच-रचना का इतिहास मानव के सौन्दर्य-बोध के विकास का श्रेष्ठ उदाहरण है। उसी की सापेक्षता में मंच-सज्जा होने लगी। उसे गोबर से लीपा-पोता गया, गैरिक-रंगों से उस पर चित्र बनाए जाने लगे। कदली-स्तंभ, आम्र-पत्रों के वंदनवार, पर्णमालाएं, गुल्म-गुच्छ, पुष्पहार—इनकी संरचना से तोरण खड़े किए गए। हरित-वंश, वेत्र-दण्ड, तमालपत्र; इन द्वारा मंच की अन्य व्यवस्थाएं की गईं। कुंभ-कलशों की स्थापना से मंच-शोभा बढ़ाई गई। दृश्य-बंधों के अनुरूप मंच-पार्श्व की रचना की जाने लगी। भित्ति-रचना भी होने लगी। उस पर बन्यपशुओं, गण, ग्राम्य-देवताओं की चित्र-रचना भी होने लगी। इस प्रकार मंच का व्यक्तित्त्व उभर कर सामने आने लगा।

प्रारंभिक मंच के रंगपर्वों में एक ही रंगबंध रहता था। जैसे-जैसे रंगबंधों और रूपबंधों में विस्तार होने लगा, वैसे-वैसे मंच पर दृश्य-परिवर्तन की विधाएं-प्रविधाए भी आविष्कृत होने लगीं। प्रकाश-व्यवस्था के लिए पहले एक साथ अनेक अग्निकुंड प्रज्वलित किए जाते थे, फिर काष्ठ-दंड जलाए जाने लगे। दृश्य परिवर्तन की समस्या का पहला समाधान प्रकाश-छाया द्वारा किया गया। पट-परिवर्तन के समय संभवतः प्रज्वलित अग्निदंड परिपार्श्व में ले जाए जाते थे। कालांतर में पुष्पहारों वर्णमालाओं और तमाल-पत्रों की सहायता से दृश्य परिवर्तन किया जाने लगा। समूहगान का प्रयोग भी संभवतः रहा हो। प्रारंभ में नेपथ्य नहीं था। सभी पात्र बन संवर कर मंच के पास बैठ जाते थे और आवश्यकतानुसार मंच पर आते थे। कलाचेतना के विकास के साथ ही दृश्य परिवर्तन के विकल्पों में भी परिवर्तन होने लगा।

उस आदिम शिलाखंड पर एक व्यक्ति का ही रंगावतरण रहा था। रंगकर्म में सहभागिता आने पर रंगावतरण में एक से अधिक भूमिकाओं में रंगकर्मी उतरने लगे थे। उनके परस्पर क्रियाकलाप से सहभागिता बढ़ी और बढ़ीं भूमिकाएं। एक दृश्यबंध में सहभागिता का जो रूप था वह अनेक रूप-रंगबंधों में परिवर्तित होने लगा। अनेक दृश्य बंधी, नाट्य-संयोजनों में अनेक भूमिकाएं सामने आईं। रंगकर्म की संभावनाएं और भी समृद्ध हो उठीं। इन भूमिकाओं में भी धीरे-धीरे विविधता आने लगी। विभिन्न वय, प्रकृति, व्यवहार और लिंग की भूमिकाओं से रंगानुष्ठान जनमानस में परिव्याप्त होने लगे।

प्रथम रंगारोपण में क्या कोई रंग-वेश, रंग-भूषा रही होगी? संभवतः नहीं। बाद के एकांतिक रंगानुष्ठानों में इसकी संभावनाएं हो सकती हैं। परन्तु जैसे ही रंगपर्वों में सहभागिता का पक्ष प्रबल होने लगा, वैसे ही रंगकर्म प्रसाधनचेता होने लगा। प्रसाधन अधिकांशतः 'पर' के लिए ही होता है। परन्तु यह उसके आत्म-सुख का भी अस्वीकार नहीं है।

प्रारंभिक रंगारोपणों के रागात्मक आसंग जिस अनुपात में अनुकरणमूलक थे उसी अनुपात में उसके अनुरूप प्रसाधन के उपकरण जुटाए जाने लगे। मयूर, गरुड़, शुक, हंस के पंख, नाग-केंचुली, हिरण्य-शृंग, मृगचर्म, व्याघ्र-सिंह-छाल, वल्कल, वन्यलताएं, शंख-सीपियें, घोंघे, मणि-माणिक्य, नग-रत्न, मूंगा-स्फटिक, गजदंत,—इनका आभरणिक प्रयोग हुआ। नाना रंगी मृत्तिकाओं, विविध वर्णी अनुलेपनों से मुखाकृतियों को प्रसाधित किया जाने लगा। चेहरों की रचना हुई। रंगभूषा, रंग-वेश का विकास रंगकर्मी मानव के रुचि-परिष्करण का इतिहास है।

प्रथम रंगावतरण संभवत: मौन प्रकार का ही रहा हो, और मौन-भंग किसी के स्वर-अनुकरण से ही हुआ हो। निश्चित ही बाद के किसी भी रंगानुष्ठान में रंगलीन रंगकर्मी ने किसी वन्य पशु-पक्षी का स्वरोच्चारण किया होगा। यह उच्चारण मयूरगान, शुक-भारण, सिंहगर्जन, मेघनाद, निर्झर-निनाद—किसी का भी हो सकता था। इनके उच्चारण की प्रारंभिक भगिमा एकालापी रही थी। इनकी संवादात्मक मुद्रा भी पशु-पक्षियों के परस्पर स्वर-संभाषण की सी थी। परन्तु जब रंगारोपण में मानवीय भूमिकाएं आईं तब एकालापी प्रकार का शब्दिक संभाषण और परस्पर संवाद भी आ गया। यही एक लम्बे परिसंवाद में बदलता गया, और नाटक का महत्त्वपूर्ण तत्त्व बन गया।

रंगकर्म में कार्यव्यापार का संयोजन भी धीरे-धीरे हुआ। प्रथम रंगारोपण में किसी न किसी प्रकार का अंग-परिचालन था। वह नृत्य की ही कोई मुद्रा रही होगी। नर्तन में उसी या वैसी ही कुछ मुद्राओं की बराबर आवृत्ति होती रही। नृत्य की नवीनता से अंगपरिचालन की मुद्राओं-भंगिमाओं में भी नवीनता आती गई। कार्यव्यापार में संवाद तत्त्व के संयोजन से आंगिक अभिनय में तो विविधता आई ही परन्तु कार्य को गतिमयता भी मिली। इससे कार्यव्यापार के प्रसार के महत्त्वपूर्ण आयाम खुलने लगे। प्रारंभिक कार्यव्यापार स्वतः-स्फूर्त होते हुए भी अनुकरणात्मक था। रंगारोपण निसर्गत: कार्यव्यापार-मूलक है अत: अनुकरणशीला रंगधर्मिता उत्तरोत्तर कार्य-व्यापार की गतिमयता से सम्पन्न होती रही। नृत्यों के बाद मंच पर युद्धों का मंचन हुआ। भले ही वे पशु-युद्ध हों किंवा मानव-पशु युद्ध अथवा मानव-मानव युद्ध। इनमें पहला संवाद गर्जनाओं-हुंकारों का रहा होगा। वह स्वरात्मक था। शाब्दिक बाद में हुआ। प्रारभिक कार्यव्यापार एक रूपबंधीय था, जिसमें कोई एक घटना अथवा उसका अंश रहता था। विविध रूप-बंधों, रंग-बंधों, दृश्य-बंधों से कार्यव्यापार अनेक घटानापेक्षी बना। उसमें कार्यव्यापार की विविधता, विभिन्नता और गंभीरता आ गई। जैसे जैसे मानव का एकांतिक संलाप टूटा, उसमें आपसी संबोधन बने, वार्तालाप जुड़ा, संभाषण-अभिभाषण हुए, वैसे-वैसे ही उसकी मंचधर्मिता में कार्यव्यापार की दिशाएं अनावृत्त होती रही। वह प्रारंभिक बिखराव, ध्रुवहीनता से मुक्त होकर किसी रचनात्मक सोद्देश्यता से जुड़ने लगा।

'...रगदैवत पूजनम्' : लोक-धर्मी रंग-संपदा परिनिष्ठन : जनपथगा लोक-रंगधारा :

सृजन की लोकधर्मी चारित्रकता, परिनिष्ठित होकर एक अभिजात गरिमा से विभान्वित

होने लगती है। परिनिष्ठन प्रक्रिया लोक-कला-संपदा का विधिवत संस्कार करती है। अभिजात क्या है ? अनाभिजात का परिष्करण। साहित्य में यह परिनिष्ठन-प्रक्रिया सदा सर्वदा गतिशीला रही है। लोक-साहित्य परिनिष्ठित होकर और भी अधिक प्रकृष्ट बनता आया है। भारत की लोकधर्मी रंग-संपदा अभिजात रंगकर्म और रंगानुष्ठान का अक्षय शक्तिकोश है। वह जनमानस में फैलीं पूर्वोक्त अक्षय-वट की जड़ें हैं। इन्हीं से वह अपनी उर्वरात्मक रचनाशीलता को जीवंत बनाता आया है।

प्रारंभिक रंगमंच, रंगकर्म, रंगधर्म, रंगवेश, रंगभूषा और समग्र रंगानुष्ठान की प्रकृति और व्यवहार लोकधर्मी थे। लोकशीला मंच-रूढ़ियों, मंच-व्यवहार, रूपबंध, दृश्यबंध, परिनिष्ठन-प्रक्रिया से स्वत: ही जुड़ते रहे। यह जनपथगा, लोक-रंग धारा यदि इस प्रकार प्रक्रियास्थ न हो तब एक बिन्दु पर आकर उसका अव्याहत प्रवाह रुक जाएगा और धीरे-धीरे विपथगा बनने लगेगा। क्योंकि लोकधर्मी मंचशीलता के स्रोत-उत्स सदा सर्वदा प्रवहमान रहते हैं। लोक-मानस की संरचनात्मक रंगधर्मिता एक निरंतर स्रवण से अनुस्यूत होती आई है। अत: एक विशद स्तर पर यह परिनिष्ठन-प्रक्रिया से एकान्वित होकर यदि परिष्कृत नहीं हो पाती है तब इसके अग्रगामी प्रवाह में पश्चगामिता आ जाएगी। एक निश्चित अनुपात में उसका परिनिष्ठन प्रक्रिया में निष्कासित होना अनिवार्य है। यह अनुपात उसके अनुस्यूयन की सापेक्षता से संबद्ध है। इस प्रकार लोकधर्मी रंगचेतना मंचशीलता का परिनिष्ठन उसकी प्रावाहिक अनिवार्यता है।

परिनिष्ठन-प्रक्रिया एक परिष्करण संस्कार है। यह लोकधर्मी सृजनशीलता के शूद्रत्व का क्षालन करता है, तथा सुवर्ण-गोत्रीय अभिजात से अभिषिक्त करता है। एक विशिष्ट रक्त कौलीन्य उसकी शिराओं में संप्रविष्ट होता है। लोकधर्मी सृजनशीलता की यह उपनयन-दीक्षा है। सरचनात्मक सृजन-संयोजनाएं अभिजात एवं उदात्त बनने लगती हैं। एक अर्थ में ब्राह्मणी बन जाती हैं।

लोक-रंगानुष्ठानों की गाथा-गरिमा भी इसी प्रकार की रही है। उनका परिष्करण मानव का आत्म-परिष्करण रहा है। मंच के माध्यम से भी उसने उदात्त का अन्वेषण किया है। फलत: दोनों उदात्तोन्मुख बने हैं, किसी न किसी अनुपात में उदात्त भी हुए हैं। लोकधर्मी मंचशीलता मानव-सभ्यता के उस बृहत्तर प्रक्रिया-चक्र से जुड़ जाती है जो उसे उत्तरोत्तर परिनिष्ठित की ओर ले जाने का प्रयत्न करता है।

आदिम मानव समाज में धीरे-धीरे प्रकृति के भय-प्रद रूपों के प्रति निष्ठा प्रेम, श्रद्धा जगने लगी। भय और श्रद्धा के योग से वह भक्ति-भावना जगी, जो अपनी प्रारंभिक मुद्रा में कृतज्ञतामूलक थी परंतु कालांतर में निष्ठामूलक बन गई। इसने प्रकृति के विविध उपकरणों में देवत्व दर्शन किया। उनका दैवीकरण किया, उनका स्तवन, अर्चन, पूजन, वंदन किया। प्रारंभ में जो रंगकर्म आस्वाद्य आनंद का रूप था वह देवाराधना का एक पवित्र अनुष्ठान

बनने लगा। देवार्चना में वन्य-पुष्प दूर्वा अथवा बिल्वपत्र भी जल-अभिसिंचन से परिमार्जित होकर ही समर्पित होते हैं। आवश्यक था कि रंगकर्म को भी देव पूजन के लिए मंत्र-शुद्ध किया जाए। परंतु इसके लिए उसका परिशोधन, परिष्करण भी तो अपेक्षित था। इसीलिए लोकधर्मिता का परिनिष्ठन हुआ। लोकशीलारंगारोपण का विशदीकरण किया गया। उसके वृषलत्व का प्राक्षालन कर रंगकर्म को देव-साधना के लिए विसर्जित कर दिया गया। यह रंगधर्मिता का विनियोगपूर्ण अर्घ्यदान था।

मांगलिक-विधानों, पूजा-अनुष्ठानों, यज्ञों, देव-कर्मों, ऋषि-पितृ-दिवसों पर, परिनिष्ठित रंगचेतना और मंच के अनेक स्वस्थ, प्रकृष्ट रूप सामने आए हैं। विकास के इस मोड़ पर नाटक की जड़ें तो जन-जीवन और लोकमानस से ही जुड़ी रहती हैं परंतु उसका शाखा-प्रशाखा का विस्तार नए दिशायामों में होने लगता है। वट वृक्षों की उर्ध्वगा, दिशागा शाखाओं से कई बार ऐसी रोम-राशि फूटती है जो अधोगा होकर पुनः धरती में जा समाती है और उसके गर्भ में किसी जड़ से जुड़ कर पुनः उर्वरा तत्त्वों का संपोषण करती है और एक प्रकार से न केवल वट-वृक्ष का संपोषण ही करती है प्रत्युत एक उपस्कंध बनकर वट-प्रसार को अवलंब देती है। इसी प्रकार पहले तो लोकधर्मी रंगशीलता परिनिष्ठित होती है, परंतु जब वह किसी अवस्था में स्वयं को अपने मूल लोकधर्म से विच्छेदित अनुभव करती है तब पुनः परिनिष्ठित को लोकधर्मिता से संबद्ध बनाए रखने के लिए किसी नव्य-प्रयोग के रूप में लोक-धर्मी रंगशीलता का परिनिष्ठन और परिनिष्ठित रंगबोध का लोकधर्मीकरण—ये दो ऐसी प्रक्रियात्मक स्थितियां हैं जो रंगधर्म एवं रंगकर्म के विकास में जीवंत भूमिकाएं निभाती हैं।

रंगशीलता की प्रक्रियात्मक यात्रा के ये कुछेक आयाम हैं जो इसे आवांतर प्रदान करते हैं। ये मूलतः प्रक्रियात्मक ही हैं। किसी भी देशकाल में इनकी प्रक्रियात्मक प्रकृति-व्यवहार में अंतर हो सकता है, परंतु संभाव्य का सत्य घटित सत्य की अपेक्षा अधिक जीवित है। वह निरंतर जीवित रहता है। इसलिए अधिक विश्वसनीय भी है। ऐतिहासिक विकास-प्रक्रिया में यह रंग-प्रक्रिया अपनी धुरी जोड़ती है। उसी के अक्ष पर यह चक्र भी घूमने लगता है और गति पकड़ता है। इतिहास-पथों की पर्याप्त धूल इसके प्रक्रिया-चक्र पर पड़ती रहती है। इस संपूर्ण यात्रा में ही लोकधर्मी रंगशीलता का परिनिष्ठन-प्रक्रिया की ओर अग्राग्रसरण होने लगता है। इस बिन्दु तक आते जाते और इस प्रक्रिया से जुड़ कर रंगशीलता को एक ऐसा विशिष्ट व्यक्तित्व और चरित्र मिल जाता है जो इसकी स्वतंत्र इयत्ता को प्रतिष्ठित करता है।

—

कविताएं

—कुन्दन कुमार

१. बर्फबारी के,
दिन ;
दो-चार दिन बाद ;
होले से,
और होले से,
धूप निकली है,
आज—
सिममटी हुई,
सहमी सी,
सफेद दूध सी,
जी चाहता है,
कटोरे में छान के पी लूं !

२. कभी-कभी सोचता हूं,
कतारों में खड़े हुए हैं दरख्त,
पहाड़ों, झील, झरनों से घिरा,
चमकते सफेद मोती सा,
उजाले का जाला,
या,
सचमुच में सादगी का प्रतीक ;
कश्मीर की गोद में खिला,
अनमोल बादाम का फूल,
न जाने !

किसके हिस्मे में आयेगा,
कभी कभी मैं सोचता हूँ ।

३. खट् .... खट् ..... खट् ..... ।
खट् .... खट् .... खट् .....
उसने कहा—
दरवाज़ा खोलो !
....

खट् ......खट् .... खट् .....
अन्दर से आवाज आई,
अन्दर कोई और है,
....
.... ।

४. माँ !
गाँठ खोल दे !
तू आँचल की ;
ताकि,
मैं सांस ले सकूँ ;
कि ;
धरती की सारी हवाएँ ;
तेरे आंचल में कैद हैं ।

—

लद्दाख और उसकी सरजमीन

—छेवांग रिग्जिन

जिस प्रकार भगवान शिव के मस्तक पर चन्द्रमा सुशोभित होता है, उसी प्रकार समृद्धिशाली और विशाल भारत मां के मस्तक पर सिंह के वीर पुत्रों का निवास स्थान लद्दाख स्थित है। जिस प्रकार भूमि के मस्तक पर बहुमूल्य रत्नों से युक्त मुकुट शोभित होता है उसी प्रकार भारत माता के मस्तक पर वीर पुत्रों की भूमि लद्दाख मुकुट के रूप में अवस्थित है। लद्दाख के मध्य भाग से होकर प्रवाहित होने वाली सिन्धु नदी वास्तव में जल की नदी नहीं है, अपितु यह विशाल समृद्धिशाली देश के द्वार रक्षक सपूतों में शेर के समान बल पैदा करने वाली दूध की धारा है। इसी नदी का जल पीकर हम लद्दाख के निवासी अपने शरीर को पुष्ट और बलवान बनाते हैं। सिन्धु नदी की तीव्र धारा ही हमारे अन्तर में देशभक्ति की प्रखर भावना भरती है। वास्तव में इस विशाल और समृद्धिशाली देश के हम अपने को द्वारपाल मानते हैं। इस विशाल और पवित्र स्थान पर देश की रक्षार्थ हमारी सेना और असंख्य बहादुर नौजवान रहते हैं। देश की रक्षा हेतु बलिदान देने तथा प्राणों की बाजी लगाने वाली यह पवित्र ऐतिहासिक भूमि है। भारतीय साहित्य का विशाल भण्डार इसी क्षेत्र से होकर तिब्बत पहुँचा था। इसीलिए यह क्षेत्र बौद्ध महायान मतावलम्बियों के लिए विशेष महत्व रखता है।

भौगोलिक स्थिति :—४७ हजार वर्ग मील में फैला लद्दाख शुष्क और कठोर पहाड़ी क्षेत्र है। हम आज की राजनीतिक दृष्टि से इसे पांच भागों में विभाजित कर सकते हैं। लेह, जङस्कर, कारगिल, नुपरा और जङथङ। जिसमें से दस हजार वर्ग मील भूमि चीन और पाकिस्तान के अधिकार में है। लद्दाख में लगभग २५० गांव हैं। जिनकी जनसंख्या एक लाख से कहीं अधिक है। अधिकतर गांव सिन्धु नदी के दोनों ओर की घाटियों में बसे हुए हैं। यहां की ४५ हजार एकड़ भूमि कृषि-कार्य में आती है। लद्दाख में वनों के अभाव के कारण बर्षा बहुत कम होती है। पानी के अभाव के कारण यहां पर कृषि योग्य भूमि की कमी है, फिर भी लद्दाख के निवासी बड़े परिश्रमी होते हैं। इस क्षेत्र में पशु भी अधिक मात्रा में पाले जाते हैं। परन्तु पहाड़ी क्षेत्र और घास के अभाव के कारण पशुओं की नस्ल

अच्छी नहीं होती है। पशुओं का कद काफी छोटा होता है और वे दूध भी कम देते हैं। इस क्षेत्र में गाय के समान एक विशेष पशु 'याक' भी पाया जाता है। याक अधिकतर जङथङ क्षेत्र में बहुत संख्या में पाया जाता है। याक के सींग लम्बे होते हैं, और इसके गर्दन के बीच के भाग में रोयेंदार ऊन जैसे बाल होते हैं जिससे लोग रस्सी आदि बनाते हैं।

सिन्धु घाटी :—सिन्धु नदी आकाश गंगा की तरह लद्दाख के मध्य भाग से होकर प्रवाहित होती है। सिन्धु नदी को लद्दाखी भाषा में "चङछु सिंगे खबब" के नाम से पुकारते हैं। चङ का अर्थ नदी, छु का अर्थ पानी, सिंगे का अर्थ शेर और खबब का अर्थ मुख से प्रवाहित है। सिन्धु नदी से सम्बन्धित न जाने कितने मनोरंजक और मधुर गीत रचे गये हैं जिसे यहां के सभी स्त्री पुरुष तथा बच्चे गाते हैं। वहां के लोक गीतों में सिन्धु नदी का वर्णन बहुत ही सुन्दर और मधुर है। सिन्धु नदी को लद्दाख के भावनात्मक जीवन से अलग नहीं किया जा सकता है। यह नदी तिब्बत से आरम्भ होती है और लद्दाख से प्रवाहित होती हुई पाकिस्तान में चली जाती है। यह नदी लद्दाख के कृषकों के लिए सिंचाई के काम में कम आती है। यही सिन्धु हमारे प्राचीन भारतीय इतिहास का प्रतिनिधित्व भी करती है। इसी सिन्धु नदी के किनारे-किनारे चल कर आर्य कश्मीर और जम्मू में आये, और वहां से गंगा और यमुना के मैदानों में आकर बसे थे। प्राचीन ऐतिहासिक काल का स्मरण दिलाने वाली यह नदी आज भी लद्दाख से होकर बहती है। इसके अतिरिक्त और भी छोटी-छोटी नदियां हैं, जो लद्दाख की नीरसता को सरसता में परिवर्तित करने का प्रयास करती हैं और प्राकृतिक सुन्दरता के उपमान भी देती हैं। क्षेत्रफल की दृष्टि से लद्दाख कश्मीर से कई गुना अधिक है, परन्तु अधिकतर जगह गगन चुम्बी पर्वतों से भरी हुई है।

धर्म :—लद्दाख में कई शताब्दियों से लेकर आज तक बौद्ध धर्म जीवित है, और भविष्य में भी रहेगा। चिरकाल से लेकर आज तक बौद्ध धर्म का इस पहाड़ी क्षेत्र में जीवित रहना यहां के निवासियों की बौद्ध-धर्म के प्रति अटूट श्रद्धा और आस्था का प्रतीक है। कारगिल क्षेत्र में मुसलमान अधिक हैं। लेह में बौद्ध, ईसाई, मुसलमान सभी धर्मों के लोग हैं। क्योंकि लेह एक प्रकार से व्यापारिक और राजनीतिक केन्द्र है। सरकार के सभी मुख्य कार्यालय लेह में ही हैं। इसलिए यहां पर विभिन्न धर्म के लोगों का होना स्वाभाविक है। नुपरा और जङथङ क्षेत्र में शत-प्रतिशत बौद्ध अनुयायी ही रहते हैं। जङस्कर क्षेत्र में भी अधिकतर बौद्ध हैं। कुछ गांव में मुसलमान भी हैं। लद्दाख के लगभग सभी गांवों में बौद्ध विहार या गोन्पा मिलते हैं। इन गोन्पाओं में सर्वोपरि हेमिस विहार या गोन्पा है। हेमिस गोन्पा के सर्वोच्च अधिकारी और धार्मिक गुरु परम पूज्य तकचङ रिन्पोछे जी हैं। दुर्भाग्य से परम पूज्य तकचङ रिन्पोछे जी अपने माता-पिता से मिलने के लिए तिब्बत गये थे। तब से चीनियों ने उनको लद्दाख आने से रोक रखा है। हेमिस गोन्पा की ओर से उनको लद्दाख लाने के लिये कई बार आदमी भेजे गये, परन्तु यह सब कार्य असफल रहा। अभी भी वे चीन में ही हैं। हेमिस गोन्पा ढुक्पा या लाल सम्प्रदाय का है।

स्पितुक लद्दाख में द्वितीय स्थान का प्रमुख गोन्पा या विहार है। इस गोन्पा के सर्वोच्च धार्मिक गुरु परम पावन कुशोक बकुला जी हैं। जिस प्रकार परम पावन दलाई लामा को १४वां दलाई लामा का अवतार मानते हैं उसी प्रकार पूज्य बकुला जी को भी परम्परानुगामी भगवान् बुद्ध के एक प्रमुख शिष्य आर्य बकुला का अवतार मानते हैं। भगवान् बुद्ध के इस शिष्य का अवतार भारतवर्ष में ही कहीं हुआ था। तिब्बत में भी भगवान् बुद्ध के इस शिष्य का अवतार हुआ माना जाता है। परम पूज्य बकुला जी भी इसी का अवतार माने जाते हैं।

बकुला इनका नाम किस तरह पड़ा? इसके सम्बन्ध में यह कथा प्रचलित है। भगवान् बुद्ध के प्रमुख शिष्य आर्य बकुला ने उस समय एकान्त जंगल में जाकर बकुला नामक वृक्ष के नीचे पत्ते और छिलके पहन कर, फल, कन्द और मूल खाकर कठोर तपस्या की थी। उसी से उनका नाम आर्य बकुला पड़ा है।

परम पूज्य कुशोक बकुला का जन्म मांगासो राजा के राजमहल में महारानी येशोस वाँगमो के गर्भ से हुआ। बाल्यकाल में ही आर्य बकुला को अवतरित लामा के रूप में स्पितुक गोन्पा में लाया गया। स्पितुक गोन्पा में उनकी प्राथमिक शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। १२ वर्ष की अवस्था में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए तिब्बत गये। वहां उन्होंने ढसपुङ गोन्पा, जोकि तिब्बत का सबसे बड़ा गोन्पा है, में प्रवेश लिया। इस विहार के सर्वोच्च अधिकारी और धार्मिक गुरु परम पावन दलाई लामा जी हैं। वहां उन्होंने तिब्बती विद्वानों और दर्शन शास्त्र के ज्ञाताओं से २५ वर्ष तक त्रिपिटक के पवित्र धार्मिक ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् ल्हासा के सबसे बड़े ढसपुङ गोन्पा या विहार में महाप्रणिधान नामक सभा का आयोजन किया गया। असंख्य तिब्बती विद्वान् और दर्शन शास्त्र के ज्ञाताओं के बीच (गेशेष) काल्याणमित्र प्रथम श्रेणी की उपाधि से उनको विभूषित किया गया। २५ वर्ष की अवस्था में स्वदेश वापस आकर पुन: स्पितुक विहार या गोन्पा के प्रधान धार्मिक गुरु के आसन पर बैठे। इसके पश्चात् उन्होंने अपने गम्भीर ज्ञान के उपदेश द्वारा भिक्षुओं और सभी स्त्री-पुरुषों को सन्तुष्ट किया। तत्पश्चात् उन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश किया। तब से लेकर आज तक परम पूज्य कुशोक बकुला जी लद्दाख वासियों के धार्मिक गुरु ही नहीं, अपितु एक सफल और प्रभावशाली राजनीतिक नेता भी हैं। सर्वप्रथम वे जम्मू कश्मीर राज्य में नेशनल कांफ्रेंस के अध्यक्ष पद पर आसीन हुए। उसके बाद सन् १६४७ ई० में लद्दाख एफेयर के मन्त्री के पद को सम्भाला। इस पद पर उन्होंने आठ वर्ष तक निरन्तर कार्य किया। इन आठ वर्षों के दौरान उन्होंने लद्दाख की गरीब और पीड़ित जनता के दु:ख तथा कठिनाइयों को दूर किया। संप्रति सत्ता में न रहने पर भी उनका यह शुभ और पूज्य कार्य लद्दाख वासियों के लिए जारी है।

लद्दाख में प्राचीन परम्परा के अनुसार प्रत्येक परिवार में से किसी एक भाई को भिक्षु बनाने की प्रथा है। यह प्रथा आज भी प्रचलित है परन्तु यह धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही है। क्योंकि आजकल कोई भी बालक भिक्षु बनना पसन्द नहीं करता है। भिक्षुओं को

भगवान् बुद्ध के बताये हुए २५३ शीलों का दैनिक जीवन में अनुसरण करना होता है। इनमें चार मौलिक या प्रमुख नियम हैं। साथ ही विहार या गोन्पा के शील से सम्बन्धित पृथक् नियम होते हैं। इन नियमों का पालन करना भिक्षु संघ के लिए अनिवार्य होता है। अज्ञानवश किसी नियम के विरुद्ध चलने पर उस भिक्षु को दंड भी भोगना पड़ता है। गोन्पा में भिक्षुओं को प्रतिदिन प्रातः सामूहिक पूजा में उपस्थित होना अनिवार्य होता है। इस पूजा के अवसर पर निरीक्षणार्थ एक विशेष भिक्षु को चुना जाता है। विहार या गोन्पा की ओर से भिक्षुओं की योग्यता के अनुसार उनके भोजन की भी व्यवस्था की जाती है।

लद्दाख में बौद्ध धर्म का अभी बोल-बाला रहा है। इसी कारण प्राचीन राजा और महाराजाओं के बनवाये गये बहुत से स्तूप और मणि वहां मिलते हैं। मणि के ऊपर "ओममणि पदमे हूँ" का मन्त्र पत्थर और शिलाओं पर खोद कर रखा हुआ है ताकि इधर-उधर आते-जाते समय इसकी परिक्रमा लग जाये। लद्दाख के सभी स्त्री-पुरुष-बालक और वृद्ध इन स्तूपों और मणियों की परिक्रमा करते हैं। इसीलिए इस मन्त्र का लद्दाख के बौद्धों के लिए विशेष महत्व है। विहारों यह गोन्पों में गुरु शिष्य की प्राचीन परम्परा है। भिक्षु उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए तिब्बत जाया करते थे। जब से तिब्बत परतन्त्र हुआ तब से भिक्षुओं का तिब्बत जाना बन्द हो गया है। आजकल इन भिक्षुओं को उच्च शिक्षा दिलाने और बौद्ध दर्शन शास्त्र के अध्ययन के लिए भारत सरकार के अनुदान द्वारा चोकल मसर में एक बौद्ध दर्शन महाविद्यालय की स्थापना की गयी है। इस संस्था में लगभग एक सौ से अधिक भिक्षु और छात्र बौद्ध दर्शन और बौद्ध संस्कृति का ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं।

प्रत्येक गोन्पा में अपना अपना धार्मिक त्यौहार भी मनाते हैं। धार्मिक त्यौहार पर भिक्षु लोग विभिन्न पोषाकों के साथ धार्मिक नाच करते हैं। इस त्यौहार को देखने के लिए सभी लोग इच्छुक रहते हैं और सभी गांव के लोग उत्साह के साथ इस धार्मिक त्यौहार को देखने के लिए जमा हो जाते हैं। इसीलिए भगवान् बुद्ध के माध्यम से लद्दाख भारतीय संस्कृति से युगों से जुड़ा हुआ है।

रहन-सहन :—लद्दाख समुद्री सतह से ११५०० फुट की ऊंचाई पर स्थित है। यह क्षेत्र शीत जलवायु प्रधान है। जलवायु के अनुकूल यहां के लोगों की अपनी भिन्न-भिन्न पोषाक है। इस कारण यहां के लोग ऊनी कपड़े का प्रयोग अधिक करते हैं। यहां के जन-जीवन का स्तर चाहे अमीर हो, चाहे गरीब हो, सब का एक सा सरल और सादा है। स्त्रियां आभूषण पहनना बहुत ही पसन्द करती हैं। उच्च परिवार की स्त्रियों के आभूषणों का मूल्य सात-आठ हजार से भी कहीं अधिक हो जाता है। निम्न परिवार की स्त्रियों के पास भी कम से कम दो-तीन हजार रुपये के मूल्य के आभूषण अवश्य होते हैं।

सत्तू, छङ और नमकीन चाय यहां का मुख्य आहार है। किसी भी अतिथि के घर में आ जाने पर चाय, छङ और सत्तू उसके समक्ष बड़े प्रेम और आदर के साथ पेश किये जाते हैं। लोग यदि किसी घर पर निमन्त्रण में जाते हैं और यदि उस घर में छङ का अभाव हो तो

उसके निमन्त्रण का महत्व कम हो जाता है और अपने घर वापस आकर कहते हैं क्योंकि उसके घर में छङ नहीं थी इसलिए दावत में कोई मजा नहीं आया। छङ मादक होने के साथ ही स्वास्थ्यवर्द्धक भी होता है। छङ ही वहां का एक ऐसा पेय है, जो ठण्ड से लोगों की रक्षा करता है। पुरुष किसी कार्य के लिए बाहर जाते समय छङ पीकर जाते हैं। ताकि उन्हें ठण्ड का अनुभव न हो। साथ ही मानसिक चिन्ता से भी मुक्त रहते हैं। यहां के पुरुष हट्टे-कट्टे और परिस्थितियों के अनुकूल परिश्रमी और निडर होते हैं। इस दुर्गम पहाड़ी प्रदेश में प्रकृति ने प्राकृतिक सुन्दरता तो कम दी है, परन्तु वास्तविक और अकृत्रिम सुन्दरता का वरदान भगवान् ने यहां के लोगों को प्रदान किया है। स्त्रियां रूपवती होती हैं। इनका मुखमण्डल चन्द्रमा के समान होता है। वे मृग के समान नयनों वाली होती हैं। गुलाब के समान उनके कपोल होते हैं। उनके मोती के समान चमकीले दान्त होते हैं। तो भी स्त्रियां पुरुष से अधिक परिश्रमी होती हैं।

स्वास्थ्य :—स्वास्थ्य के लिए लद्दाख में अपना पृथक् आयुर्वेद है। वैद्य को लद्दाखी भाषा में 'आमची' कहते हैं। आमची का नाम किस तरह पड़ा?—इसका भी अपना रोचक किस्सा है। आमची परस्परागत ढंग से बनाने की प्रथा है। जिस परिवार में आमची हो उसी परिवार के किसी सदस्य को आमची सिखाया जाता है। परन्तु आजकल सब लोग आमची बनना चाहते हैं। आमची का समाज में बड़ा आदर-सत्कार करते हैं। उनको दवाई के बदले में श्रद्धापूर्वक रुपये-पैसे देते हैं।

इसी प्रकार ज्योतिषयों की भी वहां अपनी पृथक् प्रथा होती है। ज्योतिषी को लद्दाखी भाषा में 'ओनपो' के नाम से जाना जाता है। समाज में ओनपो का भी बहुत आदर होता है। लोग उनको शादी-विवाह के अवसर पर, पुत्र जन्म के अवसर पर, शुभ कार्य के श्रीगणेश के समय पर बुला के ले जाते हैं। इसके अतिरिक्त देवता किसी विशेष आदमी में प्रवेश कर भविष्य की सभी घटनाओं को बताता है। उसको लद्दाखी भाषा में 'तह' कहते हैं।

शादी-विवाह :—लद्दाख में बहुपति की भी प्रथा प्रचलित है। यह एक प्राचीन परम्परा है। आधुनिक शिक्षित लोग इस प्रथा को समाप्त करते जा रहे हैं। मैदानी क्षेत्र में लड़की की ओर से लड़के को दहेज के रूप में काफी धन देने की प्रथा है, परन्तु लद्दाख में इसके ठीक विपरीत है। मैदानी क्षेत्र में मंगनी भी लड़की की ओर से की जाती है। लेकिन लद्दाख में इसके भी ठीक विपरीत है। शादी-विवाह हो जाने पर मां-बाप से अलग हो जाने का रिवाज है। परन्तु कुछ आदर्श और उच्च परिवारों में मां-बाप साथ भी रहते हैं।

दाह-संस्कार :—दाह-संस्कार की प्रथा लद्दाख में अनोखी होती है। सात-आठ दिन तक निरंतर उस मृतक के घर में भिक्षुओं को बुलाकर पूजा-पाठ कराया जाता है। भिक्षुओं के लिए पर्याप्त भोजन और चाय की व्यवस्था की जाती है। मृतक आदमी के सभी रिश्तेदारों और सगे सम्बन्धियों को एक पंक्ति में बैठकर रोने देने की व्यवस्था है। रोते समय बीते दिनों की सभी बातों को याद करते हैं। मृतक शरीर को चिता में जलाया जाता है। मृतक शरीर को ले

जाते समय भिक्षु लोग पूजा पाठ करते हुए साथ जाते हैं और वहां कुछ देर तक पूजा-पाठ करने के पश्चात् मृतक शरीर को अग्नि में समर्पित कर देते हैं और भिक्षु लोग वापस आते हैं। मृतक के सम्बन्धी भिक्षुओं को वस्त्र, बर्तन, हरेक चीज भेंट करते हैं। भिक्षु लोग उन चीजों को बेच देते हैं और उन चीजों से प्राप्त मूल्य को गोन्पा में जमा कर देते हैं और गोन्पा के कार्य में व्यय करते हैं। दाह-संस्कार कराने में बहुत खर्च होता है। गांव के सभी स्त्री-पुरुष और दूर के गांवों से लोग उस शोकग्रस्त परिवार से मिलने आते हैं और उन लोगों के भोजन और चाय की व्यवस्था करनी पड़ती है। और भी बहुत सी परम्पराएं और प्रथाएं हैं। यहां पर सबका वर्णन करना सम्भव नहीं है।

शव

—अनूप खजूरिया

—अमुक शहर में छः मौतें, सात घायल।
—कौन मर गया ?
—इन्सान—घुट-घुट कर मर गया।
—धुआं ही धुआं।
—क्या जल रहा है ?
—इन्सान—सर से पांव तक।
—अरे कोई है ?
—बचाओ······बचाओ······बचाओ।
—वो··· ·ओ······भागा।
—पकड़ो··· ·पकड़ो······पकड़ो
—स्साले गाली देता है।
—हां, तेरी तो······।
—तेरी यह हिम्मत ·····।
·····················
·····················
—मार डाला—खंजर से मार डाला।
दंगे, फसाद, पुलिस, लाठीचार्ज, कर्फ्यु।
शोर शोर ···· शोर ····शोर

हर ओर से कानों में कर्कश 'संगीत' की मानिंद टकराने वाला शोर। रगों में दौड़ने वाला शोर। ज़िंदा लाशें ढोता शोर। इसी शोर में वह एक ज़िंदा लाश तलाश कर रहा था, परन्तु हर बार खीझ कर वो हाथ आई लाश को पटक देता था। हर लाश जीवन-रहित थी। किसी भी लाश में उसके लिए अपनापन नहीं था।

"जीवन तलाश कर रहा है।"—चांद सोच कर मुस्करा दिया और तारे भी देखा-देखी अट्टहास करने लगा।

वह यह प्राकृतिक उपहास सहन न कर सका और चल दिया। गली के मोड़ पर पहुंच कर वह सामने के खम्भे पर लगी ट्यूब-लाईट को निहारने लगा।

●

ट्यूब रह-रह कर फड़क रही थी। वह उसके नीचे आकर खड़ा हो गया। उसे ट्यूब अपनी तरह तड़पती अनुभव हुई। उसे लगा कि ट्यूब को भी उसी की तरह कोई अभाव है। वह अपनी तुलना ट्यूब से करने लगा। उसकी ज़िन्दगी भी जीने के प्रयास में संघर्षमय थी। उसकी हालत सवारियों से लदे उस बूढ़े टैम्पो की तरह थी जिसका दम बीच-बीच में टूटने लगता है। उसने खम्भे के साथ पुश्त टिका दी। विचारों के समन्दर में गोते लगाता वह अपने गांव की उन पगडन्डियों पर पहुंच गया जहां से उसने अपना जीवन आरम्भ किया था।

मिडल पास करते ही बाबा ने उसकी शादी 'चंदो' से कर दी थी। पास ही के गांव की एक अल्हड़ नवयौवना थी वह। कितना खुश था वह उस दिन। परन्तु चंदो का मुंह उसे शादी के चार दिनों बाद ही दिखाई दिया था। फिर महीनों गुज़र गए। 'टोटो' का जन्म हुआ। खेतों से लौटते हुए चंदो का 'टोटो' को गोद में उठाए आंगन में मुस्करा कर स्वागत करना कितना भला लगता था। फिर बाबा गुज़र गए। अम्मा भी उन्हीं के ग़म में चल बसी। एक ही माला के मोती बिखरते चले गए। कुछ खेत उसके हिस्से में भी आए थे।

"कितने अच्छे दिन थे वे।"—उसने एक ठंडी सांस भरी। फिर जीवन पिसने लगा। अनाज कम और 'कुन' अधिक हो गए। चंदो का यौवन झुलस गया। पांच बच्चे सर-दर्द बन गए। चंदो ने खाट पकड़ ली। जब झाड़-फूंक से कुछ न बना तो डाक्टर को दिखाया था। डाक्टर ने बताया इसे टी० बी० हो गया है, प्रथम-चरण में है, दवा-दारू से ठीक हो सकता है। वह शहर आ गया था। चौकीदारी का काम मिल गया था। उसके ज़ेहन में चंदो की मरियल तस्वीर उभर आई।

"मैं चंदो को नहीं मरने दूंगा"—उसने सोचा और अपनी हथेली कस कर भींच ली मानो उसकी मुट्ठी में चंदो की जान हो जिसे वह छोड़ना न चाहता हो।

ट्यूब अभी भी पर-कटे कबूतर की तरह फड़फड़ा रही थी। परन्तु उसका मन कहीं और था। उसे लग रहा था कि चंदो नहीं बचेगी! वह ट्यूब-लाईट की तरफ देखने लगा जो अभी भी जलने के प्रयास में अपनी पलकें झपक रही थी। उसे लगा कि ट्यूब चंदो की सांस है जो चलने के प्रयास में फिसल रही है।

अचानक ट्यूब का दूधिया प्रकाश गली के चारों ओर फैल गया। उसकी आंखें तीक्ष्ण प्रकाश सहन न कर सकीं और बंद होती चली गईं। बंद आंखों में उसे चंदो का नव-जीवन दिखाई दिया, जैसे चंदो जी पड़ी हो। उसने राहत की सांस ली। एकाएक ट्यूब-लाईट बुझ

गई। चंदो ओझल हो गई। उसने उसे पकड़ना चाहा परन्तु सख्त लोहे के सिवा उसके हाथ में कुछ नहीं आया। शायद चंदो 'फिसल' गई थी। उसने शोर मचाना चाहा। ऊंचे मकानों से विनती करनी चाही कि वह चंदो की जिंदा लाश को पकड़ लें। परन्तु उसकी आवाज़ गले में घुट कर रह गई। वह तड़पने लगा उस पिंजरे में बंद पक्षी की तरह जो स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष कर रहा हो।

उसने भागना चाहा।

दीवारें चिल्ला पड़ीं—"पकड़ो ·····पकड़ो।"

उसने छिपना चाहा।

परन्तु किसी ने उसे शरण नहीं दी। वह गालियां बकने लगा। उसने चाहा कि कोई उसे खत्म कर दे, मगर किसी ने उसे नहीं मारा। उसकी बाहें लम्बी होने लगीं। उड़ती चंदो को उसने पकड़ने की चेष्टा की परन्तु चंदो की गर्म-गर्म सांसें उसे जलाने लगीं। वह पिघलने लगा। जिंदा लाशें बेजान सी उसे निहारती रहीं और वह पिघलता रहा।

चारों ओर सन्नाटा था। गली के कुत्ते खामोश थे। ट्यूब खामोश थी।

—क्या हुआ?

—कोई 'पड़ा' हुआ है।

—अरे यह तो मोहल्ले का नया चौकीदार है।

—कोई देखो तो सही।

—क्यों जी, नब्ज चल रही है?

—नहीं! अरे कोई हास्पिटल तो फोन करो।

भीड़ में हलचल होती है फिर खामोशी छा जाती है।

"पुलिस बुलाओ"—एक आवाज़ आती है। लोग धीरे-धीरे खिसकने लगते हैं।

शोर······शोर······शोर

चारों ओर शोर है। उसकी हथेली खुली हुई है। 'शोर' पास से गुज़र रहा है—पर 'वह' अब वहां नहीं था। सिर्फ उसका शव······

—

दो कविताएं

धूप की गली

—क्षमा कौल

तुम्हारे और मेरे घर के बीच से,
एक तपती हुई—
धूप की गली ;
एक सुडौल आकार को—
रौंदती हुई चली जाती है।

मुझे याद आई,
दादी की कही एक—
अनुभूत कहानी,
बेटी ! यह बड़ा भयंकर—
इन्द्रजाल,
जिसमें,
यह उलझे, वह उलझे, मैं भी उलझी,
पर—
तुम न उलझना।

रुंदे आकार के—
भग्न हृदय के अन्दर,
धंसी मेरी नम दृष्टि में—
मंडराता रहा,
वह थोथा हृदयहीन अहं ;
और,
बुद्धि को पटकती रही,

पराजय के नुकीले पत्थरों पर—
यह उलझी हुई तिकोणी सीख।
और,
अमूर्त से किसी बन्धन में
घिर गया मेरा हृदय-प्रदेश।

—

ईश्वर

मेरे मन में ईन्धन
जल रहा है,
तुम अपनी मक्की उसमें —
भून रहे हो।
कब तक महसूसती रहूँगी,
मैं,
इसी में अपने होने की—
सार्थकता।
मेरे प्रिय !
तुम गिरगिट हो
कि क्या बला ?
अपने ढेरों बदलते रंगों में—
मुझे एक से भी
गहरा नहीं रंगते—
मैं पागल थी
तुम्हें ईश्वर कहा !

—

कहानी

एहसास

—अंदलीब सुरेश

आस्था को जब पता चला कि वह मां बनने वाली है तो उसकी आंखों के सामने पल भर के लिए अंधेरा छा गया। उसे लगा जैसे अब उसकी मृत्यु समीप है। वह क्लिनिक से बाहर निकली, टैक्सी मिलने तक वह कई बार गिरते-गिरते संभली। बड़ी कठिनाई से अपने फ्लैट के दरवाज़े तक पहुँची। रास्ते भर वह अपने किए पर पछताती रही। उसका अंतर आत्मा उसे ही कोस रहा था। "एक अनब्याही मां"—कितना कलंकित शब्द है। उसे स्वयं से घृणा होने लगी। वह सोच रही थी इसमें किसी का क्या दोष। मुझे अपने किए का ही फल मिला है। मैंने स्वयं एक औरत हो कर दूसरी औरत का अपमान किया, "इसमें भास्कर का क्या दोष" यह बात उसने एक मदहोश शराबी की तरह बड़बड़ाते हुए कही। उसने बत्ती बुझा दी और बिना कुछ खाए-पिए शाम ढले ही बिस्तर पर गिर गई। वह नींद की प्रतीक्षा करने लगी। कमरे में फैले अंधेरे की तरह उसके जीवन में भी सभी ओर अंधेरा था। वह अंधेरे में अपने बीते दिनों को तलाश करने लगी और यादों के भंवर में खोई रही।

वह उसी कम्पनी में सैक्रेटरी थी जिसमें भास्कर नया-नया डिज़ायन इंजीनियर हो कर आया था। आस्था उसे कॉलेज के दिनों से पहचानती थी। उन दिनों भी कॉलेज में भास्कर की आस्था के लिए प्रेम की बात प्रसिद्ध थी। भास्कर सभी कुछ बीच ही में छोड़ इंजीनीयरिंग की पढ़ाई के लिए बाहर चला गया। जाने से पहले भास्कर ने लाख चाहा कि आस्था उससे हां या न में कुछ कहे परन्तु उसे निराश ही जाना पड़ा। उसने सोचा इसमें जरूर आस्था की कोई मजबूरी रही होगी। एक लम्बे अंतराल के बाद अचानक भास्कर को कम्पनी के दफ्तर में दाखिल होते हुए ही गेट पर आस्था सामने से आती मिली। परन्तु आस्था ने पहचानना ही गवारा न किया और वह अजनबी हो गई। भास्कर के दिल में जो प्रेम की राख दबी हुई थी, पांच सालों से, उसे आस्था की एक झलक आंधी की तरह उड़ा कर ले गई और यादों के शोले बिखर गए और भास्कर का तन-मन दहकने लगा।

अनचाहे ही वह उसकी ओर खिंचता चला गया। उसे अपनी महब्बत पर पूरा भरोसा था और अब तो वह इन्जीनियर हो गया था, देखने में भी पहले से कहीं अधिक सुन्दर लगता था। वह कार्यालय में बहाने बना-बना कर चला जाता, उसकी यह हरकतें कम्पनी के बाकी कर्मचारियों से छिपी न थीं और जब भी वह आस्था के समीप से गुज़रता सभी एक गहरी भेद भरी मुस्कुराहट लिए हल्के से हंस देते। काफी दिन बीत जाने पर भी जब आस्था के व्यवहार में परिवर्तन न आया तो वह अधीर हो गया। इसी अधीरता में उसने उसके नाम एक पत्र लिखा और छुट्टी के समय अपने ही हाथों से उसे थमा दिया।

उस रात वह सो न सकी। वह भी तमाम रात जागता रहा···तरह तरह के विचारों में उलझा हुआ। उसे अपने भाग्य पर अत्यंत विश्वास था और वह किसी किस्म की भी बुरी घटना की आशा नहीं रखता था। दूसरे दिन वह बड़ा प्रसन्न चित्त दफ्तर पहुंचा। वह जैसे ही आस्था की टेबल के पास रुका, आस्था उठ खड़ी हुई। चेहरा गुस्से से तमतमा रहा था। वह इतने लोगों के सामने ही बरस पड़ी, "तुम समझते क्या हो ? मैं तुम्हारे जाल में फंस जाऊंगी। बेशर्म इन्सान ! अपनी हैसियत और औकात देख कर तो पत्र लिखा होता। जिस महल्ले में तू रहता है क्या वहां कोई तेरी मां से बात भी करता है ? क्या नाम है तुम्हारे बाप का ? तुम्हारी मां ने उसे कभी देखा भी है।"

इस बीच भास्कर ने बोलना चाहा मगर आस्था थी कि रुकी ही नहीं। वह अभी बोल ही रही थी कि भास्कर की सहनशक्ति समाप्त हो गई और पूरे जोश में आकर उसने एक थप्पड़ आस्था के गालों पर जड़ दिया और—"अगर एक भी शब्द और कहने का साहस है तो कह। मैं तेरी जान ले लूंगा" कह कर वह चला आया और कभी लौट कर दफ्तर न गया। उसने नौकरी से इस्तीफा दे दिया। क्या मुंह लेकर वह वहां जाता ? वह जानता था अपनी मां की मजबूरियों को और उसके देवीत्व को। तभी तो वह अपनी मां को अपनी एक मात्र विरासत समझता था।

उसके बाद वह किसी भी रात चैन से न सो सका। दिन भर रोज़गार की तलाश में आवारा कुत्ते की तरह दौड़ते रहना और उसके बाद रात पुरानी बातें दोहराना। सारी-सारी रात आंखों में निकल जाती। एक सवाल बार-बार उसके दिमाग में आता—"तूने क्यों न कुछ कहा ?" फिर वह सोचता—"लोगों ने उसे ही सच समझा होगा। ऐसी बातों में तो मेरी ज़ुबान बचपन से ही सिली हुई है। कभी खोल सका हूं मैं लोगों की बातों के सामने अपने लब ? और कभी किसी को प्रेम का इतना खूबसूरत तोहफा भी मिला है, जैसा मैंने आस्था से पाया ?" वह इसी संघर्ष में जला जा रहा था और अब और ज़्यादा जलने का साहस नहीं था। वह सोचता क्यों नहीं भगवान् मेरी स्मरण शक्ति छीन लेता, ताकि मुझे भावनाओं की इस भट्टी से स्वतंत्रता मिल जाए।

रात के ग्यारह बज रहे थे। मां कुछ न जानती थी और गहरी नींद में सोई हुई थी। वह आहिस्ता से उठा, जूते हाथ में लिए और निकल पड़ा। बाहर हल्की हल्की बारिश हो रही थी। वह सीधा आस्था के फ्लैट पर आ रुका और उसने घंटी का बटन दबा दिया।

दरवाज़ा आस्था ही ने खोला और वह उसे देखते ही सहम गई। जाने क्या सोचकर वह दोबारा दरवाज़ा बंद करने के लिए बढ़ी थी कि भास्कर ने आगे बढ़ कर रोक दिया। वह कमरे में पहुँचा और भीतर से दरवाज़ा बंद कर लिया। सोफे पर बैठ कर अपने जूते खोल ही रहा था कि आस्था ने भयभीत स्वर में कहा—"घड़ी पहने हुए हो और यह नहीं जानते कि शरीफ लोगों के यहां जाने का भी कोई वक्त होता है। काम बताओ और चले जाओ। जूता उतारने की कोई जरूरत नहीं।"

"तुम समझती हो मैं उस दिन की बेइज्ज़ती भूल गया हूं। नहीं मुझे हर शब्द याद है जो तुम्हारी गंदी जुबान से निकला था। मैं तो उसी दिन से बदले की आग में जल रहा हूं। तुमने मेरी मां को गाली दी। अब से कुछ देर बाद मैं तुम्हें तुम्हारी शराफत की दाद देकर चला जाऊंगा। आज मैं तुम्हें पवित्रता का एक नया तमगा दूंगा।" यह कह कर वह उसकी तरफ बढ़ गया। वह पीछे हट रही थी और कहे जा रही थी—"हो तो एक ऐसे ही बाप के बेटे न?" वह पागलों की तरह चिल्ला रहा था—"तुमने मेरी मां को गाली दी। एक ऐसे बाप का बेटा हूं तो एक देवी जैसी मां का भी कुछ हूँ।" और कुछ ही देर बाद वह जब दोबारा कपड़े पहन रहा था उसने घड़ी देखते हुए कहा—"अरे एक बज गया मुझे जाना चाहिए, मैं भूल गया था यहां एक शरीफ लड़की रहती है," और वह पलंग पर निर्वस्त्र सिसकती रह गई थी।

और आज परिणाम सामने था। आस्था अंधेरे में अपने अतीत की झलकियां देख रही थी। वह सोच रही थी कि उसने अपनी मां को देवी कहा था। आज कोई मेरी कहानी सुने तो ··और कल मेरा बेटा···नहीं! मंदिर में शंख बजा तो उसे नींद आने लगी और वह सो गई।

जब जागी तो धूप भरपूर यौवन पर थी। बारह बज कर बीस मिनट···वह घबरा कर उठ बैठी। एक बजे तो डाक्टर के साथ मिलना तय हो चुका है। नहा धो कर जब वह फारिग हुई तो थोड़ा सा कुछ खा कर, बटुए में थोड़े से रुपए डाले और निकल पड़ी। डाक्टर ऐसे रोगों के विशेषज्ञ थे और वह ठीक समय पर पहुँची थी। उसने डाक्टर से कहा—"मेरे पति एक व्यवसायी हैं, वह पासपोर्ट लेने दिल्ली गए हुए हैं और उनकी अनुपस्थिति में मुझे पता चला है कि मैं मां बनने वाली हूं और यह बच्चा हम अभी नहीं चाहते। भूल हो गई है हम से।"

डाक्टर ने कारण पूछा तो उसने कहा—"हमारी नई नई शादी हुई है और अभी ज़िन्दगी का मज़ा ही कब लिया है। एक दो महीने बाद यूरोप जा रहे हैं घूमने। अगर मेरे पति यह जान गए तो मुझे साथ नहीं ले जायेंगे।"

डाक्टर ने इन्कार कर दिया, आस्था ने काफी मिन्नतें की मगर वह न माना। वह निराश होकर लौटने को ही थी कि डाक्टर ने कहा—"आप इस दुश्कर्म के लिए इतनी ही

उत्सुक हैं तो अपने पति के साथ आइएगा मैं हालात ठीक समझूंगा तो शायद कुछ कर सकूं। उनकी रज़ामन्दी के बगैर मैं यह नहीं कर सकूंगा। आॅयम सॉरी।"

आस्था लौट आई। अब और कोई रास्ता न था। वह यह दर्द किसी के साथ बांट भी नहीं सकती थी। तीन साल पहले उसे प्रकाश नाम के व्यक्ति ने प्रेम के सब्ज़ बाग दिखा कर धोखा दिया था। जभी तो आज प्रेम में उसका बिल्कुल विश्वास नहीं है। आंसू तो जैसे पलकों पर बंधे हुए हों। अब एक ही रास्ता था…भास्कर! वह उससे प्रेम की भीख मांगने का अधिकार तो खो ही चुकी थी लेकिन उसे प्रेम का वास्ता दे कर इतना साथ तो मांग ही सकती थी। उसने स्वयं को कोसते हुए भास्कर के नाम एक पत्र लिखा।

भास्कर उससे नफरत करने लगा था परन्तु पत्र पा कर चला आया। बैठते ही उसने प्रश्न किया—"आप अभी इसी शहर में हैं?"

—"भगवान के लिए ऐसी बातें न करें। मैं विनती करना चाहती हूँ कि मैं मां बनने वाली हूँ। आपके बच्चे की।"

—"मैं क्या कर सकता हूं, कौन है बच्चे का बाप?"

—"मैं पहले ही से अपने किए की आग में जल कर राख हो चुकी हूँ। मुझे और न जलाओ भगवान के लिए। तुम्हें तुम्हारे प्रेम का वास्ता।" और वह फूट फूट कर रोने लगी।

बहुत मिन्नतों के बाद आखिर इतना तय हुआ कि दोनों साथ साथ डॉक्टर के यहां जाएंगे और भास्कर वहां उसे अपनी पत्नी बताएगा। डॉक्टर ने प्रश्नों की बरसात कर दी थी मगर उसने संतोषजनक उत्तर दिए। अंत में डॉक्टर को मानना ही पड़ा। डॉक्टर ने उन्हें एक सप्ताह बाद आने की गुजारिश की क्योंकि सही वक्त आने में एक सप्ताह बाकी था और एक दवाई भी बाहर से मंगवाई जानी थी। दोनों चले आए। आस्था ने एक कप चाय के लिए भास्कर से किसी रेस्तरां में बैठने की ख्वाहिश ज़ाहिर की क्योंकि वह घबराहट महसूस कर रही थी। दिल के किसी कोने में आज भी भास्कर के दिल में आस्था की छवि मौजूद थी। भास्कर ने बात मान ली। आज उसे आस्था फिर अच्छी लग रही थी—शोख चंचल और उत्तेजक आस्था के स्थान पर मासूम, सुघड़, सादी आस्था।

एक सप्ताह बाद जब वह दोनों डॉक्टर के यहां गए तो पता चला कि दवाई अभी तक नहीं पहुँची थी। शायद डॉक्टर उनके फैसले के बदलने की प्रतीक्षा में था और उन्हें मौका दे रहा था। आज आस्था ने उससे भीतर आने का अनुरोध किया क्योंकि बाहर बारिश जोरों पर थी।

दोनों चुप्पी साधे बैठे थे। भास्कर ने चुप्पी तोड़ते हुए कहा—"अगर मैं न मानता तो तुम क्या करतीं?"

आस्था खामोश रही। भास्कर ने आगे कहा—"तुम बात क्यों नहीं करतीं? सब कुछ तुम्हारी इच्छा से ही तो हो रहा है। मुझे भीतर चलने को कहा और खुद खामोश हो, बेरुखी तुम्हारी फितरत में समा गई है। कहो न क्या करतीं तुम?"

वह फिर चुप रही, मगर भास्कर न रुका—

—"परसों दवा मिल जाएगी उसके बाद हम हो सकता है न मिलें। देखो बाहर मौसम कितना अच्छा है, कितनी ठंडी हवा है। कुछ तो कहो।"

—"क्या कहूँ अब कहने को है ही क्या ?

—"यही तो पूछ रहा हूं गर मैं न मानता तो तुम······"

वह बीच ही में बोल पड़ी

—"आत्महत्या करती, यही सुनना चाहते हो न", और वह फफक-फफक कर रो पड़ी।

भास्कर भी अपने प्रश्न पर खुश न था। उसने आंसू पोंछने के लिए हाथ बढ़ाए ही थे कि कुछ सोच कर पीछे हटा लिए और जाने की अनुमति चाही।

आस्था चाहती थी कि भास्कर कभी न जाए। यह हसीन मौसम अब उसे खाने को आता था। वह पल पल भास्कर के हाथ अपने गालों पर महसूस करती रही। उसे लगता जैसे वह कह रहा हो—मैं तुम्हारा हूँ, मैं आ गया हूँ ; तुम्हारे पास सदा के लिए। मैंने तुम्हें क्षमा कर दिया है। सुनो मेरे दिल की धड़कन क्या कह रही है।" वह इसी संघर्ष में विचारों के जाल बुनती रही।

रास्ते भर में भास्कर की आंखों के सामने बार बार आस्था की आंसू भरी आंखें आ जातीं। वह सोचता इतनी बड़ी सज़ा दी मैंने उसे। उसे उसकी ही आंखों में गिरा दिया। दूसरे ही क्षण उसके कानों के आसपास गूंजने लगते आस्था के उस रात के शब्द—"हो तो उसी बाप के बेटे न।" उसने सोचा मैं हर कदम पर कोशिश करता रहा कि अपने पिता के चरित्र से भिन्न रहूँ। मैं हमेशा संभल सभल कर चलता रहा ताकि उनके स्वभाव का साया भी मुझ पर न रहे। और आज···प्रकृति मुझे अंततः फिर उसी सांचे में ढाल चुकी है। क्या मिला मुझे अपने उस प्रण से ? लेकिन मेरा भी क्या दोष ? उसे याद आया जब कभी मां उसके किसी स्वभाव को देख कर यह कहती कि बिल्कुल अपने पिता की तरह बात करता है तो उसके तनबदन में आग लग जाती। —बड़ा होकर कोई अगर आस्था के बच्चे को कुछ कहेगा तो मुझ में और मेरे बाप में अन्तर ही क्या रहेगा। नहीं ! मैं ऐसा नहीं होने दूंगा। इससे पहले मैं आस्था को अपना लूंगा।

दो दिन यूं ही सोचते बीत गए, वह दिन भी आ गया। न आस्था अपनी आत्मा की आवाज़ उसे सुना सकी न भास्कर अपने किए फैसले को अपनी ज़ुबान तक ला पाया। हार कर डॉक्टर ने दवाई भी दे दी। दोनों चुपचाप चल रहे थे। आस्था जब भी आंख उठा कर भास्कर की ओर देखती उसकी आंखें भर आतीं और भास्कर तो उसकी ओर देख ही न पा रहा था। जैसे जैसे फासला कम होता जा रहा था दोनों के दिलों में भावनाओं का तूफान ज़ोर पकड़ता जा रहा था। मगर दोनों खामोश थे···श्मशान की तरह।

वह मोड़ आ गया जो दोनों के रास्ते अलग करता था, जहां पर अक्सर आस्था उसे अपने फ्लैट पर आने का निमंत्रण देती थी। भास्कर रुक गया। आस्था भी भरपूर चाह के बावजूद आज उससे फ्लैट तक आने का आग्रह न कर पाई।

—"आपकी इस दया के लिए आभार किन शब्दों में व्यक्त करूं ? आपका यह व्यवहार सदा मुझ पर एक एहसान की सूरत में रहेगा।" इतना ही कह कर उसने पीठ मोड़ ली और तेजी से आगे बढ़ गई। भास्कर भी अपने रास्ते पर चल पड़ा, एक भारी दिल लिए। उसके दिल में तूफान उठ रहे थे, "क्यों नहीं रोका उसे मैंने ?" यह सोचते हुए उसने पीछे मुड़ कर देखा। आस्था एक जगह रुक कर उसकी तरफ देख रही थी। जैसे ही भास्कर ने मुड़ कर देखा उसी पल वह उसकी ओर भागने लगी। भास्कर ने भी उसकी ओर कदम बढ़ा दिए।

आस्था भास्कर के कदमों में गिरी हुई रो-रो कर कह रही थी—"बहुत मिल चुकी मुझे अपने पाप की सजा। मुझे क्षमा कर दो। मैं तुम्हारी हूँ, तुम्हीं को चाहती हूं। एक धोखे ने महब्बत पर से मेरा विश्वास ही मिटा दिया था—वह विश्वास तुम दोबारा ले आए हो। मैं तुम्हारे बच्चे की कातिल बन कर और पापिन नहीं होना चाहती। मुझे मेरा मातृत्व दे दो। मैं मां बनना चाहती हूँ···तुम्हारे बच्चे की मां। मुझे यह भीख दे दो।" और वह फूट फूट कर रोने लगी।

कदमों से हटा कर भास्कर ने उसे ऊपर उठाया और सीने से लगा लिया। उसके हाथों में दवाई की बोतल थी। बोतल ले कर भास्कर ने दूर फेंक दी और धीमे से भर्राए स्वर में कहा "पगली कहीं की।"

—

प्रतीक्षा करता हूं....!

—प्रभात त्रिख

तुम्हारे पास आने का अनुभव
जब जब मैंने किया
तब तब मेरे मन में
कुछ नये सपनों का
जन्म हुआ !
गम की गहरी घाटियों से
गुजरते हुए
दर्द के जंगलों में भटकते हुए
जब जब तुम मुझे याद आए
तुम्हारा अक्स मेरे मन में छा सा गया !
तुम्हारे जीवन की सांसों का माध्यम बन
जब प्रकृति मेरे पास आ ठहरती है—
मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करता हूँ !

एक दर्द के जंगल के बाद
दूसरे दर्द का जंगल लांघ जाता हूं
निस दिन तुम्हें खोजा करता हूँ
और इसी तरह इस तलाश में
एक दिन के बाद दूसरा दिन कट जाता है
और
मेरे मन से तुम्हारा अन्तिम चिन्ह भी
मिट जाता है।
फिर भी मैं न जाने
किस की
प्रतीक्षा करता हूँ .....!

विरासत

—राज कुमार धर

जीवन के कटु यथार्थ को भोगने की नहीं हिम्मत,
तो इसमें आश्चर्य कैसा ?
हम तो जन्म से ही हैं भीरू।
जूझने की शक्ति और उन्माद हमें मिले नहीं विरासत में।
कायर हैं हम, हम स्वीकारते हैं
और हमें लज्जा भी नहीं आती।
हमारी नसों में रुधिर नहीं है
जो कालो कर गई है हमारी काया
इससे हमें नहीं इन्कार।
मनन, चिन्तन तथा विरोधशक्ति का है हममें अभाव,
यह कोई विडम्बना नहीं,
क्योंकि हम हैं बीसवीं शती की संतान ;
समय और संकीर्णता के पंजों में जकड़े हुए
भूख से बिलबिलाते हुए अभावों के हम कीर्तिमान
हमारा उद्धार एक समस्या है, जो
साकार होकर भी निराकार बनी हुई है…!

—

कहानी

लहराती हुई पूंछ....

—शक्ति शर्मा

सन्तुष्ट और असन्तुष्ट के पाटों में वह बराबर पिसता रहा है। अब भी पिस रहा है। तब उसे बड़ा अजीब सा लगता है। जीवन के माने तो उसके लिए कुछ भी नहीं। अजीब से झंझट में फंसा वह छटपटाने लगता है। मन के किसी कोने में पलती असन्तोष की लपट, झुंझलाहट और ऊब यही तो खाये जा रहे हैं उसे। मौत, नहीं वह मर नहीं सकता। कैसे मर सकता है ?

आफिस में 'जी, जी' करने का वह अभ्यस्त हो गया है। 'न' कहना सीखा ही न हो जैसे। साहब की झाड़-फटकार उसके लिए अपमान की बात है या मजबूरी का अलार्म... वह कभी नहीं जान पाया। वह तो बस, खिसियानी सी हंसी बिखेरे खड़ा रहता है। उसे तब लगता है, झाड़-फटकार खाना भी मानो उसकी 'ड्यूटी' में शामिल है।

टर्रनऽऽऽऽ टर्रनऽऽऽऽ

घंटी की चिंघाड़ उसके अस्तित्व को सदैव झिंझोड़ती रही है। पहले, जब वह नया-नया आया था तो झटपट कुलांचें भरता हुआ भीतर जाता था। जब, वह उठा तो उसके घुटने की ठोकर से 'स्टूल' कराह कर पीछे की ओर लुढ़क गया। किवाड़ पर लटके परदे को घूर कर देखने से उसके माथे पर आढ़ी-तिरछी रेखाएं किसी खेत की ऊबड़-खावड़ पगडंडी सी उभर आई थीं। उसने परदा उठाया और घिसटता सा साहब के टेबल के पास खड़ा हो गया। साहब आंखें मूंदे, टांगें पसारे आराम कर रहे थे। उन्होंने आंखें खोले बिना ही उसे पुकारा था। शायद साहब उसे सूंघ लेते हैं—उसने सोचा।

साहब ने अपने मोटे होंठों पर जिह्वा घुमाई। नासापुटों पर हथेली रखी। सांस भीतर की ओर खींचा। तत्पश्चात् एक-दो बार हथेली सूंघी। यह उनकी पुरानी आदत है।

'बीड़ी-सिगरेट होगा तेरे पास ? कब से तलब दबाए हूं।' साहब ने कहा। फिर अपनी 'पुरानी आदत' दुहराई। उसने साहब को गौर से देखा था। लिज़लिजे चेहरे पर

चिपके गाल। आंखों के चश्मे के पीछे से झांकती हुई दो धूमिल आंखें। सर के बीच तक है माथा। या यूं कहूं, अधगंजे हैं साहब। उसे सदैव उनकी आदमियत कुहासे में लिपटी हुई लगती है। व्यवहार बहुत मीठा किन्तु फिर भी घिनौने-पन में लिपटा हुआ। सिगरेट के पैसे भी खर्च नहीं कर सकते, मांग कर ही गुजारा कर लेते हैं।

साहब को कोसते हुए उसने चारमीनार का पैकट जेब से निकाला और साहब के हाथ में रख दिया। साहब ने एक सिगरेट सुलगाई और दूसरी टेबल की दराज़ में ठूसेड़ कर पैकट उसे लौटा दिया। वह मुंह बनाता-बिगाड़ता हुआ बाहर आ गया।

—'मोती ऽऽऽ !' साहब जब शब्द खींचते हैं तो वह कसमसा उठता है, झुंझला उठता है। अगले ही क्षण वह कसमसाहट, वह झुंझलाहट कहीं झर जाती है और उसके होंठ जबरन मुस्कान से खिंच जाते हैं। स्निग्ध सी मुस्कान। तब उसे लगता है, उसके होंठो पर मुस्कान नहीं, उसका समूचा अस्तित्व बिछ जाता है। पेट का बोझ इतना भारी है कि वह उठा नहीं सकता और उसका अस्तित्व इतना सस्ता है कि उसके बिछने से उसके पेट का बोझ हल्का-सा प्रतीत होता है···ऐसा उसने प्राय: महसूस किया है और फिर एक पेट का बोझ हो तब न, वह तो एक साथ तीन पेट उठाये फिरता है।

बहुत पहले, जब वह पहली बार साहब के घर गया था, साहब के साथ—शायद कुछ उठा कर ही। उसने साहब का घर देखा था तो काफी अजीब लगा था। घर क्या था, अच्छी-खासी कोठी थी वह। गेट से दस-बीस फुट दूर तक बगीचा था। उसके काफी आगे दायें मुड़ कर असल मकान। बरामदे में फूलों की बेल के साथ जुड़ा गमलों का लम्बा सिल-सिला। उसे धूप में सब ऊंघता, अलसाया सा, अकेला-अकेला लगा था।

बगीचे में पानी देते हुए माली के पास एक हट्टा-कट्टा पीले रंग का कुत्ता पेड़ की छांव में लेटा हांफ रहा था। गेट खुलने की चरमराहट से वह सावधान हो गया और उधर की ओर भागा। साहब की टांगों से लिपट कर वह पूंछ हिलाने लगा। साहब उसकी पीठ सहला रहे थे।

'मोतीऽऽऽ।' साहब ने शब्द खींचे थे, फिर अपनी पुरानी आदत दुहराई थी।

'जी साहब।' वह झट से बोला था। साहब के लिज़लिजे चेहरे पर व्यंग्य की हल्की सी मुस्कान दौड़ गई थी। उनकी नुकीली मूंछें जरा सी फड़क गई थीं। वह विस्मित सा उन्हें देखता रहा था।

'तुम्हें नहीं भाई, यह भी अपना मोती ही है।' उन्होंने आंखों से कुत्ते की ओर संकेत किया था और वह साहब का शब्द खींच कर पुकारने का रहस्य जान गया था। वह उन्हें घूरने लगा था। गर्मी में बोझ उठाने के कारण वह बुरी तरह पसीने से भीग गया था। किन्तु इस ओर उसका ध्यान नहीं गया था। उसे लगा था, उसके पीछे भी एक लम्बी पूंछ निकल आई है और साहब के कुत्ते की पूंछ से भी अधिक गति से लहरा रही है और भी अधिक वेग से···।

एक हाथ में अंगोछा समेटे माली भागता हुआ आया था। उसकी काली-कलूटी टांगों पर चिपकी गीली मिट्टी की परत, पसीने से लिजलिजी सी होकर चमक रही थी। चेहरे पर भी मिट्टी की तह जमी थी। मानो मिट्टी फांकता रहा हो। मरियल सा अस्थि-पंजर शरीर, 'एनॉटमी हॉल' में पड़े मुर्दों की भांति। —'जी मालिक, मुझ से कुछ कहा।'

साहब के जबड़े पुन: खिच गये, 'नहीं, अपना काम करो।' उसके जाने के पश्चात् उससे बोले थे—इस कम्बख्त का नाम भी मोती है। तब उसने उचक कर माली को देखने का प्रयास किया था। उसे विश्वास हो गया था कि वहां भी जरूर पूंछ उगी होगी और शायद लहरा भी रही होगी। अब उसे इस बात पर हंसी नहीं आती, बस खीझ सी होती है। वह अब प्राय: यह जानने को उत्सुक रहता है कि उसमें और मोती कुत्ते में आखिर क्या फर्क है? उसके मनुष्य होने में क्या कमी है?

उस दिन के पश्चात् वह आता-जाता रहा था और उसके व कुत्ते के बीच की औपचारिकता—यदि वह थी—धीरे-धीरे कम होती गई थी। ··और कम···बहुत ही कम।

उसने मेम साहब और साहब के व्यवहार में समानता पाई थी। अन्तर था तो मात्र इतना कि मेम साहब अकड़ और घमंड की गंदगी से बुरी तरह लतपथ थीं। साहब नहीं ··।

पहले जब वह साहब और मेम साहब कहता था तो उसे अजीब सा लगता था। चूंकि कालेज में उसने सर का पाठ पढ़ा था। अगर कोई चपरासी किसी प्रोफेसर को साहब कहता तो वह भिन्ना सा जाता था। आज भी वह अपने शौक से साहब नहीं कहता, उसकी मजबूरी है यह तो।

वह साहब की किसी बात का विरोध नहीं कर सकता। वह उनका जरखरीद गुलाम नहीं, यह ठीक है। वह स्वतन्त्र भारत का स्वतन्त्र नागरिक है। फिर भी परिस्थितियों का पूर्णरूप से गुलाम है और साहब उसकी विवशताओं का लाभ उठाने से चूकते नहीं। उन्होंने उसे अपना जरखरीद गुलाम समझ रखा है। ऊंह, वह विद्रोह कर देगा। वह सरकारी नौकर है, साहब का घरेलू नहीं। 'विद्रोह'! शायद खीझ की पराकाष्ठा पर पहुंच कर ही उसने इस शब्द को चुना है। किन्तु हर बार परिस्थितियों का बन्दी बना छटपटा कर रह जाता है। वह पेट का बोझ उठा कर नहीं चल सकता। वह आदमी है, घास चरता गधा नहीं।

उसे याद आया। जब वह बी. ए. की परीक्षा में असफल रहा था तो क्लर्की के लिए मारा-मारा फिरता रहा था। सुबह सूर्य चढ़ने से शाम का झुटपुटा छाने तक वह भटकता रहता था। मां काफी परेशान थी। पापा एक-डेढ़ वर्ष में रिटायर होने वाले थे। मां इसी बात के लिए परेशान थी कि पापा के अवकाश पाने के बाद घर का सिलसिला कैसे चलेगा। पांच-सात माह बेकार घूमते रहने के बाद मां ने उसे आवारा-लोफर का फतवा दे दिया था। अब वह मां को कैसे समझाता कि उसकी बेकारी में उसका अपना हाथ कितना है? उसकी बदकिस्मती का कितना हिस्सा है?

जब वह किताब लेकर पढ़ने बैठता तो मां टोक देती—'क्या रखा है पढ़ाई-वढ़ाई में। कहीं भरती हो जाये तो अपने पैरों पर चलना सीख जाये।' मां का चिड़चिड़ा-पन उसे मुंह खोलने पर विवश कर देता। तब मां बोलने लगती। अच्छा-खासा झगड़ा न हो जाये, लोग तमाशा देखने इकट्ठे न हो जायें, यह सब सोच कर वह बाहिर खिसक जाता था। वह बहुत कुछ सोचने लगता। ऊटपटांग। अन्त में सोचता इसमें मां का भी क्या दोष, वह भी तो पेट का बोझ उठाने से घबराती है।

शाम के धुंधलके में जब वह सीढ़ियां चढ़ रहा था तो मां की कर्कश आवाज़ उसके कानों से टकराई थी। वह वहीं बरामदे में, सीलनों से टपकती उमस में खड़ा सब सुनता रहा था। —'सुबह का गया है, न जाने कहां आवारा-गर्दी करता होगा। अब तुम्हीं कहो जी, घर में जवान बेटा हो तो क्या राशन मैं सिर पर लाद कर लाया करूं। आयेगा तो गधे से कम नहीं खायेगा।'

पापा ने कदाचित कुछ नहीं कहा था। क्योंकि उसे पापा की आवाज़ नहीं सुनाई दी थी। वह धीरे-धीरे चलता हुआ, मुंह लटकाये दहलीज पर खड़ा हो गया था। शायद वह खीझा भी था।

'नहीं, वह गधा नहीं, भाग्य और परिस्थितियों का मारा बेकार मनुष्य है। जिसके माथे पर परेशानी की रेखाएं खिची हैं। यह देखो, उसके दो हाथ हैं, दो टांगें हैं··· चार नहीं। उसकी पूंछ नहीं है। वह गधे से बहुत कम खाता है। और आज, वह नहीं खायेगा। बिल्कुल नहीं···।' किन्तु आवाज़ कंठ से निकली नहीं। बहुत बार अक्सर ऐसा होता है कि अपनी समझ में वह बेतहाशा चीखता-चिल्लाता है परन्तु आवाज़ है कि किसी और को सुनाई ही नहीं देती। शायद बेकारी के भय से । आज उसे लगता है, शायद जानवर शब्द उसके लिए उपयुक्त ही है। पहले, जब बेकार था तो 'गधा' था। अब जबकि वह कमाता है तो कुत्ता है, साहब का पूंछ हिलाता हुआ मोतीऽऽऽ···।' फिर अपने इस विचार पर उसे खुशी होती है'···आखिर तरक्की ही तो की है?

मां ने उसे देखा था। उसकी भौहें सिकुड़ गई थीं। —'आ गया है—लाट-साब।' वह बड़बड़ाती हुई रसोई में चली गई थी। पापा कुछ नहीं बोले। शायद वह उसका दुःख समझते थे। अपना जीवन क्लर्की की भेंट चढ़ा कर उन्होंने इतना अनुभव अवश्य ग्रहण कर लिया था। वह धीरे-धीरे चलते हुए उसके पास आ गये थे। —बहुत पास ··। लगभग सट कर खड़े हो गये थे। कितनी ही देर तक वे उसे अपलक निहारते रहे थे। वह सिर झुका कर ज़मीन कुरेदता रहा था। पापा काफी देर तक चुपचाप खड़े रहे थे—'तार-घर में कुछ चपरासियों की जगहें निकली हैं। अर्जी दे दो।' उन्होंने कहा था। उसे लगा, इस वाक्य को कहने के लिए ही पापा को इस लम्बे क्षण का रास्ता हांफते हुए तय करना पड़ा था।

उसने पापा को देखा था। पापा के चेहरे पर कुछ ऐसा था, जो उसके लिए नया था। —'देखो, तुम पढ़े-लिखे व्यक्ति हो अगर कहीं क्लर्की की जगह निकली तो अर्जी दे देना।

पहले अपने पांव तो जमने दो। अगर मेरे अवकाश पाने के बाद भी तुम इसी प्रकार बेका रहे तो बेटा, घर का सिलसिला कैसे चलेगा।' पापा ने जो चुप्पी साधी थी तो फिर लगाता चुप रहे थे। लम्बे समय तक…।

वह खामोशी से खिसक गया था। काफी परेशान होने पर वह मन्दिर के अहाते में ए ओर गुमसुम बैठ जाता था। ऊपर वैष्णों देवी का मन्दिर था और नीचे लक्ष्मी-नारायण का अलग-थलग थे हनुमान और शिव के मन्दिर। अधिकतर हनुमान और शिव के मन्दिर शा को शान्त ही रहते थे। वैसे पण्डित जी उसके काफी पास फटक आये थे। वह उसे समझाते भगवान् राम और दूसरे देवताओं की कड़ी परीक्षा की बातें विस्तारपूर्वक बताते। तब व सोचता, वे भगवान् राम थे, देवता थे और वह त्रेता युग था। वह भगवान् या देवता नहीं कलयुग के असंख्य कुलबुलाते कीड़ों में से एक है। जिस पर परिस्थितियां पूरी तरह हावी हो गई हैं। उसका नाम किसी भी इतिहास में नहीं दुहराया जायेगा। अगर आज उसकी जगह भगवान् राम भी होते तो शायद वह भी पेट का बोझ उठाने में असफल रहते।

उसे याद आया, जब वह साक्षात्कार के लिए गया था तो साहब ने अजीब दृष्टि से उ घूरा था, पांव से सिर तक। उसके सिर पर उनकी दृष्टि अटक गई थी। तब उसे लगा था शायद उसके सिर पर अजीब तरह के सींग उग आये हैं जिन्हें देखकर साहब शायद सोच रहे थे कि इस जानवर नुमा आदमी से वे किस प्रकार का प्रश्न करें। —'तारा चन्द के बेटे हो?' साहब ने पूछा था। उसने सिर हिला दिया था—'जी।'

—'ठीक है, जाओ।'

घंटी फिर चिंघाड़ी थी। वह अलसाया सा उठा। लम्बी जम्भाई ली। मुंह कुत्ते स फैलाया। फिर धीरे-धीरे सरकने लगा। —'मोतीSSS, घर जाकर मेम साहब से कहना आ मैं थोड़ा लेट आऊंगा। समझ गये नSSS। उसने सिर हिला दिया, फिर वापिस पलटा, और बाहर आ गया।'

'आफिस में आफिस के काम कम और साहब के घरूनी काम अधिक होते हैं।' उसने सोचा।

गेट के पट खुलने से पहले चरमराये थे। वह धीरे-धीरे चलता हुआ भीतर आ गया। बरामदे में से माली को निकलते देखकर उसने पूछ लिया—'मेम साहब भीतर हैं—क्या?' माली ने उसे खूंखार दृष्टि से घूरा था। जैसे उसे चीर-फाड़ कर खा जायेगा—'हां—।' वह भौंका फिर हांफने लगा। उसे माली की झुंझलाहट की आड़ में मजबूरी से हिलती हुई पूंछ देखने का विचार आया। तब तक माली आंखों से ओझल हो गया था। दीवार के पिछवाड़े में ··।

भीतर मेम साहब मि० भाटिया से शतरंज खेल रही थीं। उसने पहली दफा किसी औरत को मर्द से शतरंज खेलते देखा था। कालेज में कभी-कभार प्रोफेसर और लड़के आपस

में खेलते थे तो अंग्रेज़ी के प्रोफेसर मि० गिल्ल को चिढ़ सी होती थी। उनका विचार था कि शतरंज बेकार लोगों का खेल है। वह मेम साहब की तस्वीर देख रहा था। मेम साहब तस्वीर में मुस्करा रही थीं। उसे वह तस्वीर काफी अजनबी लगी थी। क्योंकि वास्तव मे उसने उन्हें कभी मुस्कराते नहीं देखा था। किन्तु वह सोच रहा था—क्या मेम साहब भी बेकार हैं। उनके पास कोई काम नहीं ?

मेम साहब ने उसे देखा था—'क्या बात है, मोती ?' वह अपनी आवाज़ सख्त करना नहीं भूली थीं।

—'जी, जी,' उसने अपने आप पर काबू पा लिया था। 'साहब कहते थे, रात को लेट आयेंगे।'

—'बहुत अच्छा।' उन्होंने कहा, फिर चाल चली। —'मोती एक काम करना, चौके में थोड़े बर्तन हैं, मल देना। फिर बाजी खत्म करके चाय का पानी रखूंगी। अच्छा बेटा।' उसे गुस्सा नहीं आया। बस कुढ़न सी हुई थी। जो उसके भीतर उठती है और वहीं चुपचाप झर जाती है। जिसका उसे मात्र पल भर के लिए एहसास होता है।

माली बथरूम में कुत्ते को नहला रहा था। बर्तन मलने के बाद वह भी उसके पास खड़ा हो गया था। माली ने एक-दो बार जलती आंखों से उसे घूरा भी था। वह चुपचाप खड़ा रहा था। मेम साहब बाजी खत्म करके उधर आई थीं और छोटे से क्षण तक उनको देखती रही थीं। उनके गाल जरा से फूल गये थे। —'अपने तीनों मोती आपस में कितने घुलमिल गये हैं।' उन्होंने कहा था और खुशी से भर गई थीं।

वह झटके से मेम साहब की ओर घूमा था। उसकी मुट्ठियां भिंचने-खुलने लगी थीं। —'हर व्यक्ति उसे जानवर समझने लगा है क्या ? वह उसके दो हाथ नहीं देख रहीं। उसकी जुबान भूक नहीं, वह बातें करता है। अभी-अभी उसने साहब का संदेश कहा था। उसके बाल संवरे हैं। उसने कपड़े पहन रखे हैं। देखो, देखो उसकी पूंछ……।'

उसने घूम कर पीछे देखा। उसकी पूंछ लहरा रही थी। उसे पेट का बोझ हल्का सा लगा था और लगा था, उसकी मां का चिड़चिड़ापन मर गया है। वह दिन भर आवारा बना भटकता हुआ नहीं फिरता। शायद, यह सब उसकी लहराती पूंछ के ही कारण है।

अचानक वह मुड़ा और तेज़ कदमों से भागने लगा। वह सड़क पर आ गया था। उसकी सांस फूल गई थी। किन्तु वह बहुत हल्का प्रतीत कर रहा था। वह स्वतन्त्र था। कल सुबह नौ-साढ़े नौ बजे तक वह पूर्ण रूप से मनुष्य बना रह सकता है। फिर दस से पांच-छः बजे तक साहब के कुत्ते का अभिनय करेगा। साहब का पूंछ लहराता—मोतीSSS।

—

दो कविताएं

अमावस

—क्षेमेन्द्र रैणा

चांद
मेरी तरह हो झुर्रीदार थके हाथों से
उन दीवारों को—
जिनमें क़ैद हो तुम—
कोयले के टुकड़ों से
कोई नाम लिख-लिख कर
लकीरों से भर देते हो
समय के हिसाब में ।

पर जैसे
पेंट के एक डिब्बे से छुपा लेता हूं
मैं—
अपने कमरे की दीवारों पर मढ़ी अतीत की छापों को
तुम भी
इन्तज़ार की अटूट कड़ी से थकने पर
थोप क्यों नहीं देते बिखरी यादों पर
अपने मन का अंधेरा
क्यों निरन्तर नहीं करते
अमावस ?

—

निरन्तर खोज

रात और दिन के निरन्तर मोड़ों से होते हुए
बालों के गुलझटे सी उलझी राहों पर
टायर खुदे डिज़ायन की तरह घिसते
बढ़ते कदम
जाने खोज सकेंगे क्या
उस अनदेखे मोड़ को
जहां—
ज़ंग लगी टीन की पतरों पर
ऐरों का निशां है
तुम्हारी गली की तरफ !!

—

कहानी

आशी

—बंसी लाल कुचरू

—अरुण ! अरुण !!

भाभी की आवाज़ से मैं हड़बड़ा कर खिड़की से उठता हूं। आते ही वह अपनी पैनी दृष्टि से सड़क के उस पार बंद होती खिड़की को निहारती है।

—जब भी महीने में एक बार घर आते हो तो इसी खिड़की से लगे खड़े रहते हो? आखिर इस खिड़की में ऐसा क्या है कि तुम···

भाभी !! कुछ कहते नहीं बनता है। नज़रें झुक जाती हैं। परन्तु कुछ कहना है और कहना भी आवश्यक है। भाभी हर बार कुरेदती हैं। आज इनकी शंका मिटानी ही चाहिये। साहस बटोर कर कहता हूं—भाभी ! भाभी !! वह आशी है न ! मैं उसी से विवाह करूंगा।

—क्याऽऽ ? भाभी अवाक् होकर मेरा चेहरा नजरों से खुरचती है। फिर भी कोमलता से बोलती है, "और नीरजा का क्या होगा ? तुम्हारे भैया क्या जवाब देंगे उन्हें ? अरुण ! उन लोगों की मुस्कान तुम्हारी एक 'हां' में कैद है···और तुम यहां इस लड़की में मन रमाये बैठे हो। जो कोई सुन लेगा कि यह चपरासी की बेटी है तो ··। ना, बाबा ना ! हमारे समाज को वह स्वीकार्य न हो सकेगी। आखिर हमारी भी मर्यादायें हैं, मान-सम्मान है। अरे, भला सोचो तो ! तुम्हारी अपनी बहनें हैं। हमारे बच्चे हैं। उन्होंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है ? क्यों अपना ही हित देखते हो ?···और फिर नीरजा !!"

—मैं कई महीनों से कह रहा हूँ कि मैं उसे अपना न सकूंगा।

—हां ! हां !! तुम्हारे योग्य जो न रही अब। अरुण ! क्या तुम से बलिदान भी न हो सकेगा ? भाभी की वाणी टीसयुक्त है। कुछ अधिक न कह कर वह सीढ़ियां उतरने लगीं।

नीरजा ! नीरजा !! मैं बीच झंझावात में फंसा हुआ हूँ। अनायास नज़रें फिर आशी की खिड़की की ओर उठ जाती हैं। खिड़की खुल रही है। ठीक एक माह पश्चात् खुल रही

है। शायद ! शायद उसका दिल खिल उठा है। परन्तु यहां किवाड़ हैं अभी। कुछ सुझाई नहीं दे रहा है। भाभी के बनाये भंवर से कैसे उभर सकूंगा। उसके कितने अहसान हैं मुझ पर। मुझे पुत्रवत पाला-पोसा। उसकी ममता और त्याग से ही मैं 'अरुण' हूं आज। एक जीता जागता मानव, जिसका अपना सम्मान और वैभव है। किन्तु ! आशी !! उस बेचारी का क्या दोष ? वह अपनी सीमा जानती थी। मैंने ही उसे उस दायरे से निकाल कर प्रेम की भाषा का मर्म सिखाया। प्रेम की जलधारा में मेरे ही विश्वास की नैया में वह पतवार चलाने लगी। मैं कैसे उसे बीच मंझधार में अकेली भटकने के लिए छोड़ दूं। इस समाज में यह ऊंच नीच का भेदभाव क्यों ? नहीं, आशी ! नहीं !! मैं तुम्हें पा के ही रहूंगा। मन में, लगा असंख्य सितारों के तार एक साथ झनझना कर बज उठे हैं। धीरे-धीरे हृदय के किवाड़ खुलते हैं। किसी तरह भाभी के बनाये भंवर से उभर रहा हूं। खिड़की से उधर देखता हूं। आशी चहक रही है और मैं भी फुदक-फुदक कर झूम रहा हूं। आंखों के इशारों में ही हमारा यह प्रेम परवान चढ़ा है। जब कभी वह हमारे बाग में कुएं से पानी भरने आती है अथवा खिड़कियों पर हमारा मिलन होता है तब यह नयनदूत एक-दूसरे के नेह और अनुराग का रस-भरा संदेश सुनाने को आतुर रहते हैं। अपनी हर कसक और पीड़ा, तड़प और चुभन, वियोग और संयोग, सब इन आंखों ने झेला है। हां, एक-दो बार सड़क पर मिले थे तब अपने मन के उस संगीत को घबराहट में एक-दूसरे को सुनाया था। वह अवसर क्षणिक थे। अधिक न सुना सके···फिर भी ! एक विश्वास ने जन्म लिया था उस दिन !

इस समय भी यह आंखें आशी को कुएं की जगत पर आने का निमंत्रण देती हैं। भाभी सामने की पड़ोसिन के बुलावे पर उसके घर जा चुकी है। आशी भी कुछ कहने-सुनाने की आंखों में चमक लिए सहज स्वीकार करती है। उसके आते ही कुछ भावविभोर होकर कहता हूँ, "आशीऽ ! आशी !! कैसी हो तुम ?" मेरी आंखों की आकुलता उससे छपी नहीं रहती। वह लहराती है। उसके नयनों में मौन आनन्द का स्वीकृत उल्लास है। परन्तु यह क्या ? कुएं से पानी का घड़ा भर कर वह वापस पलटती है। अपनी मुग्ध चितवनों से मुझे गुदगुदाती हुई जा रही है। उसकी चाल में माधुर्य और कटाक्ष में रस है। जगत पर देह तो टिका है अवश्य, परन्तु हृदय उसके पीछे-पीछे सरक रहा है। विश्वास है वह फिर आएगी। पल भर गुनगुनाता हूँ। कुछ असंगत सीटियां बजाता हूँ। इससे मन भर आया तो बाग में पौधों पर फुदकती चिड़ियों को पत्थर मार-मार कर भगा रहा हूँ। पर वह शैतान हैं, बार-बार लौट आती हैं। आशी की प्रतीक्षा में फिर कुएं पर पहुँच जाता हूं।

—आ जाओ आशी ! आओ ! आह ! आज बहुत व्यथित हूँ। वहां डयोढ़ी पर तुम्हारी याद ने मेरे भीतर के मानव को कितता उतावला बना दिया है। आज दर्द का पिटारा खोलना है मुझे। आशी ! लौट आओ। खिड़कियों से आंख-मिचौनी का खेल कब तक ? भाभी भी शंका को किसी कीड़े की तरह महसूसती है। उसे दुःख है कि मुझ में रुचि लेने वाली नीरजा अब टूट चुकी है। टूटनी चाहिये भी। भाभी का आदर करता हूँ, परन्तु !

परन्तु मन जन्म भर स्वस्थ रहे तब न। मन चंचल बालक की भांति ढीठ है, खिड़की से जुड़ता है, टूटता है बिगड़ता है और बनता है। कुंए के जल में पड़ी अपनी परछाईं से बोलते हुए सहसा अहसास होता है कि एक और परछाईं ने आकर पवन को सुगन्धित किया है। मन का पक्षी उन्मत्त सा हुआ जा रहा है। आशी के हृदय की धक-धक बहुत समीप से महसूसता हूं। दोनों की परछाइयां जल में तैर रही हैं। मैं सरस वाणी में बोलता हूं—

—देखो ! जल में दोनों परछाइयां एक होकर कुछ संदेश दे रही हैं। कितनी चतुर हैं?

—नहीं ! मूर्ख हैं बेचारी, नहीं जानतीं जल में इनका अस्तित्व सदा के लिए विलीन होगा। अरुण बाबू ! इस खेल को यहीं खत्म कीजिये। यही कहने आई हूँ।

मैं रस्सी खींच कर उसे निहारता हूँ। आज पहली बार उसके अधर कपाट खुलते हैं। किन्तु वह भी विवश क्रन्दन लिए। फिर भी मैं सहारा देता हूँ।

"आशी ! मैं जानता हूं कि तुम क्या हो। प्रेम सत्य-असत्य को नहीं परखता, मैं तुम्हें अपनाऊंगा।"

"भावुकता में न आइये। देखिये ! नीचे जल में हलचल है। अब ढूंढिये न परछाइयों की। कहां खो गयीं ?" मेरे हाथ से रस्सी लेता हुआ उसका स्पर्श कितना भयभीत है। मैं आहत होकर उसका हाथ थाम लेता हूं।

—आशी ! आशी !! तुम मेरे जीवन का मधुर संगीत हो। एकमात्र सच्चाई हो।

—नहीं ! मैं गन्धहीन जंगली फूल हूँ। तुम्हारे समाज में गुलाबों की महक है, वह भी उपवनों की—वहां मेरी पहुँच नहीं।

—आशी ! तुम, तुम जो कुछ भी हो। मैं विद्रोह करने को तत्पर हूं। तुममें भी साहस है ? कोर्ट मैरिज कर लेने पर भाभी बेबस हो कर हमारा स्वागत करेगी।

आशी सिहर रही है। किन्तु यह सिहरन भय की नहीं। यह तो कुछ कर गुज़रने का रोमांच है। कांपते स्वर में फड़फड़ाती है, "साहस है, परन्तु भविष्य के प्रति आशंकित हूँ।"

उसकी हां अब खुल गयी है। धैर्य का पग अब आगे बढ़ता है। कहता हूँ, "साहस जीवन है, और डर मृत्यु। मृत्यु को नकारो और जीवन को अपनाओ। रात के ठीक ग्यारह बजे समझी।"

आशी चली गई। कुएं में स्थिरता थी। अपनी परछाई में उत्साह देखा। आशी हां-नहीं की उधेड़बुन में नहीं फंसेगी अब। इतना आश्वस्त था।

ठीक रात के ग्यारह बजे। चारों ओर भयानक नीरवता है। अमावस की काली रात। आशी के घर से एक छाया धीरे धीरे पथ की ओर बढ़ रही है। मैं भी उससे कुछ आगे चल कर पीछे आने का संकेत करता हूँ। कुछ दूर चल कर हममे अपनी डरी हुई परछाइयां पीछे छोड़ दीं। सामने रेलवे प्लेटफार्म को देख कर कहता हूँ—यहां जाना पहचाना कोई नहीं है।

आओ इस बैंच पर बैठते हैं। जब तक ट्रेन आए, यहां बैठो आशी। किन्तु वह हिली-डुली नहीं। चुपचाप गठरी बनी सिमटी-सिकुड़ी सिर और नीचे झुका कर बैंच पर बैठ गई है।

—आशी ! मैं समीप आकर उसका मुखड़ा ज्योंहि ऊपर उठाता हूँ तो चौंक कर चिल्ला उठता हूं, "नीरजा तुम ? आशी के कपड़ों में तुम ? यह ! यह कैसे ?"

वह चुपचाप एक पत्र देती है। मन आया पत्र को दूर पटरी पर फैंक दूं किन्तु पत्र आशी का है। ·· पढ़ने लगता हूँ—

अरुण बाबू !

कई दिनों से सोच रही थी कि आप को उस सत्य से अवगत करा दूं जिससे आप कतराते रहे हैं।

एक दिन किसी कारणवश आपकी छोटी बहन हमारे घर आई थी। उसकी भोली बातों में मैंने एक ऐसे सत्य के दर्शन किये कि मैं चकरा गई। अरुण बाबू ! मुझे मेरे नीड़ में ही रहने दीजिये।

ज़रा सोचिये तो कि नीरजा की भांति कल को मुझे भी बस दुर्घटना में एक आंख खोना पड़ जाये तो क्या आप मुझे अपनायेंगे ? आप प्रेम तो क्या, दया भी नहीं करेंगे। यही दुर्घटना यदि आप पर होती और आप से प्रेम करने वाली नीरजा आपको ठुकरा देती तो ? बताइये ! आप पर क्या बीतती। उसका विश्वास खो कर आप कितना टूटते ··· ?

अरुण बाबू ! अपने आप को टटोल कर मैंने यही पाया कि मैं कितने बड़े सच को झुठला रही थी।

—आशी

मैं सोचों की जलधारा में बहता हुआ अनुभव करता हूं कि मेरी सोचों पर जो काई जम गई थी वह धीरे धीरे टूट रही है ·····।

—

बिखरा गीत

— नीलम बाला

मेरे मन का चमन ही उजड़ गया
मेरे प्रेम का राग बिखर गया।

टूटी सितार है मन को,
गलियां सूनी हैं जीवन की
छूटी हर खुशी है तन की,
आंख न लगती पल क्षण भी

मेरी वीणा का तार-तार उलझ गया
मेरे मन का चमन ही उजड़ गया

मैं वह ग़ज़ल हूँ जो न गुनगुनाई जाए
मैं वह वीणा हूँ जो न बजाई जाए
तार ढीले पड़े कुछ इस तरह
लगता है शीराज़ा ही बिखर गया
मेरे मन का चमन ही उजड़ गया

मेरे प्रेम की अजब बहार थी पूजा
इस दुनिया में मुझे कुछ और न सूझा
तीव्र हवा का झोंका ऐसा चला

लगता है मेरा दीप ही बुझ गया
मेरे मन का चमन ही उजड़ गया

मेरा जीवन पल ही मात्र है
मन टूट चुका इक पात्र है
न कोई चैन इकरार रहा

जो कुछ था सब ही बिछल गया
मेरे मन का चमन ही उजड़ गया

———

दो कविताएं

व्यस्तता

—सुदर्श तरलोचन

कभी कभार,
जब चुप लग जाती है
लगता है,
किसी आत्मीय का,
मातम मना रहो हूं।
उस वक्त,
शब्द कहां खो जाते हैं ?
मेरे इस सवाल का,
जवाब,
न दे पाओगे तुम…
अच्छा है—
अपने अपने रास्ते,
चलते जायें,
परिस्थितियों ने चाहा,
तो रास्ते मिल जायेंगे।
अन्यथा,
मैं व्यस्त हूँ,
अनुभवों को सहेजने में।

मजबूर

कल,
एक मोड़ पर,
ठहरा कर मुझे,
चला गया कहीं,
मेरा मैं,
थोड़ी देर में
आने को कह कर।

मजबूरो से बंधा हुआ,
वह मजबूर सा लगता था।

कल !
स्याह काली रात थी,
सन्नाटे पर,
धुन्ध गिर रही थी
और मैं
न जाने कब तक
धुन्ध को चीरती हुई
मीलों लम्बी सड़कों को
नापती रही—
खोज में,
उस मजबूर की,
बंधा हुआ
जो मजबूरी से
मजबूर सा,
लगता था।

कहानी

साड़ियों का चयन

—पुरुषोत्तम कुमार सलगोत्रा

अमित सिनेमा हाल से लगी बजाजे की उस सब से बड़ी दुकान में कुछ खरीदने नहीं आया था। वह तो अवकाश के आग्रह पर फिल्म देखने के लिए उसे साथ ले जाने आया था। दुकान के अन्दर पहुँच कर अमित कपड़ों की रंगीन दुनिया में खो गया। कितने ही ग्राहक वहां खड़े कपड़े उलट-पलट कर तथा थानों के थान खोल-खोल कर देख रहे थे। कुछ खरीद भी रहे थे। खरीदा हुआ कपड़ा अथवा साड़ी आदि दुकानदार लिफाफे में पैक कर उसका बिल उनके हाथ में थमा देता तथा वे पर्स जेब से निकाल कर नये अथवा पुराने नोट निकालते और लापरवाही से गिन कर उसकी ओर बढ़ा देते थे।

इन ग्राहकों में अधिकांश सैनिक अफसरों की आधुनिकतम पत्नियां थीं जो विदेशी सभ्यता को अपनाने में ही गौरव समझती थीं। अतः इसी एक भ्रम में आकर वे अर्ध-नग्न वस्त्र पहने हुए थीं, जिनसे उनकी कन्धों तक श्वेत बाहें चमकती हुई स्पष्ट दिखती थीं तथा उन्नत उरोजों से भरा वक्ष खुले गले वाले वस्त्रों में से बाहर को झांकता था। यद्यपि उस समय उन्हें कितनी भी ठण्डक क्यों न अनुभव हो रही हो किन्तु फिर भी जब वह अपने छरहरे यौवन से भरपूर बदन को देखती हैं तो उनकी ठण्डक युक्त अनुभूतियां इन्हीं सुन्दर विचारों में कहीं दब कर रह जाती हैं—कि हम आधुनिकता के ऊंचे शिखरों को छूने की अभिलाषा लिये इन शृंगों पर आ पहुंची हैं।

इनके अतिरिक्त वहां कुछेक ऐसी स्त्रियां भी थीं जो अपने यौवन की सीढ़ियों को पार कर चुकी थीं तथा हिन्दुत्व की शृंखलाओं में जकड़े रहना ही उनके लिए सब कुछ था।

"वह वाली साड़ी दिखाना। वह जो उस कोने में पड़ी है, नीले वाली।" एक सुन्दर, युवा, फैशनपरस्त बाल कटी स्त्री ने भौंहे तान कर गर्व से कहा।

दुकान का मालिक स्वयं भी वहीं काम कर रहा था। कपड़ों के थानों को काउण्टर पर खोल कर ग्राहकों के सामने फैला रहा था तथा उन्हें यह कह कर आश्वासन दिला रहा

था—"आप चिन्ता मत करें। यह कपड़े बहुत बढ़िया हैं। दाम भी उचित ही होंगे। आप बाजार से 'कन्फर्म' कर सकते हैं। यदि अधिक होंगे तो कपड़ा मुफ्त आपको दे दिया जायेगा।"

"इसका रंग तो पक्का है न? कहीं धोते ही फेंट न हो जाये?" एक व्यक्ति जो उस दूसरे कोने में खड़ा कपड़ा देख रहा था तथा उसे कपड़ा दिखाने में लगभग सभी लोग, जो दूकान में काम करते थे, व्यस्त थे, ने कपड़े को अपनी अंगुलियों से मसलते हुए पूछा।

"जी नहीं, रंग यदि फेंट हो जाये तो कपड़ा वापिस। आप विश्वास रखिये।" दुकान के मालिक ने, जो अभी युवक ही था तथा ग्राहकों से बड़ी नम्रता से कुछ इस प्रकार पेश आता था कि ग्राहकों को उसकी बातों पर पूर्ण विश्वास हो जाता था, कुछ मुस्कराते हुए कहा।

"सुनिये इधर कोई नहीं है?" उस बाल कटी स्त्री ने, जो दूसरी ओर जिस ओर दुकान मालिक के बैठने की कुर्सी लगी हुई थी, से कुछ जोर से पुकारते हुए क्रोधित स्वर में कहा। "मैं यहां कब से खड़ी हूं। कोई 'अटैण्ड' ही नहीं करता।"

"अभी आया मैडम। अभी आया।" दुकान मालिक ने बड़ी नम्रता के साथ काउण्टर पर बिछे कपड़े पर हाथ चलाते हुए कहा। "अरे अवकाश, जाना मैडम को कपड़ा दिखाना।" उसका ध्यान अपने पास खड़े अवकाश की ओर गया, जो नीचे पड़े कपड़े के खुले थानों को ठीक करके रैकों में लगा रहा था।

अवकाश ने थानों को, जो अभी फोल्ड करने के लिए शेष बच रहे थे, यूँ ही छोड़ दिया तथा उस ओर, जिधर वह बालकटी स्त्री खड़ी थी, बढ़ गया।

"मैडम कौन सा कपड़ा दिखाऊं?" अवकाश ने अपने हाथ मलते हुए पूछा और मैडम के संकेतानुसार बतलाई गई साड़ियों को दिखाने लगा। उसने, उनके अतिरिक्त और भी कुछ साड़ियों के बण्डल काउण्टर पर उस बालकटी स्त्री के सामने खोल दिये तथा मूल्य के साथ साथ उनकी विशेषतायें भी बताने लगा।

"देखो जी, यह साड़ी आपको कैसी लगती है? वैसे मुझे तो भा गई है।" उस स्त्री ने एक साड़ी, जिसका रंग नीला था तथा उसमें बने फूलों का रंग लाल और सफेद था, को अपने हाथों में लेकर अपते पति की ओर मुड़कर तथा उसे दिखाते हुए कहा।

पति देव बढ़िया सूट में सुसज्जित अपनी पत्नी के पीछे खड़े खड़े अपनी पैंट की जेबों में हाथ डाल कर सामने रैकों में पड़े कपड़े के थानों को बड़े ध्यानपूर्वक देख रहे थे। एकाएक पत्नी के स्वर से उनका ध्यान भंग हो गया तथा वह साड़ी को अपने हाथ में लेकर देखने परखने लगे।

"अच्छी है, कितने की है?" पति देव ने उसी मुद्रा में खड़े एक दृष्टि साड़ी पर डाल कर पुनः रैकों में लगे कपड़े के थानों की ओर दृष्टि दौड़ाते हुए कहा।

"एक सौ पचहत्तर रुपये की है।" अवकाश ने नम्रता से कहा।

"तुम्हें पसन्द है ?" पति ने पत्नी की ओर देखते हुए जिज्ञासा प्रकाट की। 'जी हाँ।" पत्नी ने उत्तर दिया "किन्तु मूल्य तो आपने बहुत अधिक बताया है। क्या इससे कुछ कम नहीं हो सकता ?" पत्नी ने अवकाश की ओर घूमते हुए पूछा तथा पुनः साड़ी अपने हाथों में लेकर बड़ी रुचि से देखने लगी मानो उसे बेहद पसन्द आ गई हो।

"नहीं मैडम ! 'हण्डरड प्रसैण्ट प्यारे सिल्कन' है। इससे कम वाली भी हैं, यदि आप चाहें तो वह भी दिखा दूं ?" अवकाश ने उसकी रुचि ताड़ते हुए कहा।

पत्नी की रुचि तथा अवकाश की दृढ़ता देख कर पति ने गर्व से कहा—"देखो मैन ज्यादा बातें नहीं ! यह साड़ी पैक कर दो तथा बिल तैयार करो।" अवकाश ने झट से साड़ी को पैक कर दिया तथा बिल बना कर उस व्यक्ति के हाथ में थमा दिया।

उसने कोट की जेब में हाथ डाल कर पर्स निकला तथा लापरवाही से रुपये गिन कर अवकाश की ओर बढ़ा दिये।

दुकान के भीतर दीवार के साथ से थोड़ा हट कर काउण्टर बनाया गया था। बीच में पर्याप्त स्थान छोड़ा हुआ था ताकि दुकान में काम करने वालों के चलने फिरने में दिक्कत न हो। काऊण्टर के बाहर की ओर भी पर्याप्त स्थान था। जिसमें काफी ग्राहक एक साथ समा सकते थे। दुकान के मुख्य-द्वार के साथ दाहिनी ओर एक लम्बी चौड़ी खिड़की थी, जिसके निचले भाग के काउण्टर जैसे ऊंचे तथा चौड़े बने फर्श पर कपड़ों के थान तथा बढ़िया बढ़िया रैडीमेड कपड़े सैंपल के तौर पर रखे अथवा लटकाये जाते थे।

इन्हीं रैडीमेड कपड़ों के पास खिड़की के निचले भाग के काउण्टर जैसे ऊँचे तथा चौड़े बने फर्श के साथ टेक लगा कर टेढ़ी मुद्रा में खड़ा अमित काफी देर से ग्राहकों को कपड़ा खरीदते तथा देखते-परखते देख रहा था। वह इसी प्रतीक्षा में था कि अवकाश कब अपने काम से निवृत्त होकर उसके साथ सिनेमा हाल में चलेगा। यह भी उसके हृदय में एक विचित्र उत्सुकता थी जो कभी-कभी यूं ही प्रतीक्षा करते करते बेचैन कर देती थी तथा इसी बेचैनी से कभी ऊब की एक हल्की सी चुभन प्रकट होने लगती।

अमित का ध्यान उसी सुन्दर युग्म की ओर आकर्षित था जो बहुत समय से साड़ियों को उलट-पलट कर देख रहा था। अभी-अभी उन्होंने एक साड़ी खरीद ली थी। उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि उस स्त्री के पति ने कैसे निःसंकोच भाव से तथा बिना किसी तकरार के, पर्स से रुपये निकाल कर दे दिये थे तथा साड़ी पैक कराकर अपनी पत्नी के हाथ में थमा दी थी और स्वयं अपनी हैलमट जिसका रंग हल्का पीला था, काउण्टर पर से उठा कर दुकान के बाहर चला गया था।

अमित खड़ा-खड़ा आश्चर्यचकित सा उन्हें देखता रहा तथा उसी आश्चर्यचकित अवस्था में वह कब कहां से कहां पहुँच गया उसे कुछ भी भान नहीं था...

·· "हैलो अवकाश कैसे हो ? यह मेरी श्रीमती हैं, इन्हें ज़रा बढ़िया सी साड़ियां दिखाना।" अमित ने अवकाश से हाथ मिलाकर तथा एक मुस्कान पत्नी पर उछालते हुए कहा—"श्रीमती जी, आप यहां साड़ियों का चयन कीजिए, मैं ज़रा कुछ और चीज़ों को देखता हूँ। यदि रुचिकर लगीं तो खरीद लूंगा।" फिर पास खड़े अपने छोटे भाई के कन्धे पर हाथ रख कर कहा—"राकेश, तुम भाभी के साथ साड़ियों के चयन में सहायता करो, तब तक मैं थोड़ा घूम-फिर लेता हूं।"

राकेश ने केवल 'हूँ' कहकर ही स्वीकृति दे दी, कुछ और नहीं बोला। "ठीक है अमित। भई, तुम्हारी श्रीमती जी हैं तो मेरी भी कम से कम भाभी तो हैं ही। फिर भला तुम्हीं बताओ कि मैं इन्हें घटिया साड़ी कैसे दे सकता हूँ ?" अवकाश ने एक कटाक्ष अर्चना (अमित की पत्नी) की ओर फैंकते हुए ठिठोली करते हुए कहा। अवकाश तथा अमित दोनों अट्टहास कर उठे। अर्चना, जो काउण्टर के पास अमित से सट कर खड़ी थी, लजा कर परे हट गई। राकेश दबी सी हंसी हंसने लगा। वह प्रायः गम्भीर ही बना रहता था। वह बड़े भाई के सामने न तो अट्टहास करता था और न ही अधिक बातें।

"देखो भई, तुम तो बहुत भाग्यशाली हो। अच्छी नौकरी के कारण तुम्हारे ठाट तो अब रईसों से कम नहीं हैं तथा सुन्दर पत्नी भी प्राप्त कर चुके हो। अब तुम ईश्वर से प्रार्थना करो कि एक नन्हा सा···।" वह पूरी बात न कर पाया क्योंकि दोनों की हंसी तथा अर्चना की लज्जा ने उसे घेर लिया था। यद्यपि यह अन्त वाली बात उसने अमित के कान से मुंह सटाते हुए कही थी तो भी आवाज़ अर्चना तक पहुँच ही गई थी। दूसरा कारण यह था उसका बीच में बात छोड़ने का कि उसने जब अमित के समीप मुंह लेकर कहना आरम्भ किया था तो अमित ने उसके गाल पर एक स्नेहयुक्त चपत लगाई थी।

और फिर उसने एक साड़ी का बंडल निचले रैक से उठाकर काऊण्टर पर उनके सामने खोल दिया था और साड़ियां अलग-अलग कर दिखाने लगा था।

उसने छत की ओर देखकर एक निःश्वास छोड़ा किन्तु तुरन्त ही अपने मुख पर एक कृत्रिम मुस्कान लाने का प्रयत्न करने लगा जिससे उसके मन में जो ईर्ष्याभाव छिपे हुए थे—यही सोचकर कि मैं रहा सेल्जमैन ही और अमित कहां का कहां जा पहुंचा है, कहीं प्रकट न हो जायें। उसने और भी दो-चार साड़ियों के बण्डल उनके सामने काऊण्टर पर खोल दिये तथा स्वयं उन्हें साड़ियां निकाल-निकाल कर दिखाने लगा।

अर्चना और राकेश साड़ियों को खोल कर देख-परख रहे थे तथा आपस में निर्णय करते—"कि यह साड़ी लें, नहीं यह लें।"

"भैया को दिखाते हैं।" राकेश ने कह दिया।

अमित साथ वाली दुकानों से घूम-फिर कर वापिस उसी दुकान में आ गया था। उसने उन दुकानों से कुछ भी नहीं खरीदा था क्योंकि अकेले में उसे कुछ भी रुचिकर नहीं लगा था।

बहुत सी चीजें उसने उन दुकानों में देखी थीं। किन्तु जाने अब उसका स्वभाव कैसा हो गया था कि कोई भी वस्तु पसन्द ही न आती थी। पहले तो जब कभी भी वह अकेले बाज़ार में कोई कपड़ा अथवा कोई वस्तु खरीदने के लिए जाता था तो बस एक ही दुकान से, घटिया हो या बढ़िया, सस्ती हो अथवा महंगी खरीद कर ले आता था तथा अपनी इस अनभिज्ञता के कारण घर से डांट-डपट खाता था।

किन्तु अब सब कुछ पहले के विपरीत हो गया था। अब तो उसे कभी भी अकेले कहीं कुछ खरीदने के लिए जाना ही न होता था। जिससे उसे वस्तुओं के चयन में कठिनाई क्योंकर पेश आये। पत्नी अथवा छोटे भाई को ही, जो सदा साथ जाने के लिए उत्सुक रहता तथा भाभी, जो उससे अत्यन्त स्नेह करती थी, अपने साथ अवश्य ले चलने के पक्ष में रहती थी, वस्तुओं के चयन का भार उठाना पड़ता था और दाम चुकाने के लिए अमित को, जिसकी जेब में रुपयों से भरा पर्स तथा चैकबुक पड़ी होती थी, कहते तो वह अब धनाढ्य व्यक्तियों की भांति लापरवाही से नोट गिनकर अथवा चैकबुक निकाल कर चैक में फिगर भर कर हस्ताक्षर करके आगे बढ़ा देता।

दुकान के भीतर द्वार के दूसरी ओर कुछ कपड़ों के थान बिछा कर रखे हुऐ थे तथा कुछ रैडीमेड जर्सियां और जैक्टें टंगी हुई थीं, उन्हें अमित बड़े ध्यानपूर्वक अपनी पैंट की जेबों में हाथ डाले हुए खड़ा देख रहा था। कभी वह जेब से एक हाथ निकाल कर उन कपड़ों को स्पर्श करता तथा फिर जेब में हाथ डाल कर वहां से हट कर रैकों में रखे कपड़ों के थानों को देखता रहता।

"देखो जी, यह साड़ी आपको कैसी लगती है? मुझे तो पसन्द आ गई है।" अर्चना ने घूम कर अमित की ओर साड़ी का एक छोर बढ़ाते हुए कहा। साड़ी का रंग हल्का नीला था तथा उसमें बने फूलों का रंग लाल तथा श्वेत था।

"ठीक है, यदि आपको पसन्द है तो मुझे क्या आपत्ति हो सकती है।" अमित ने साड़ी का छोर हाथ में लेकर तथा कुछ विचित्र ढंग से मसल कर पुन. उसके हाथ में देते हुए कहा, "क्यों भई राकेश, तुम्हें कैसी लगती है? यह साड़ी पसन्द आई? अरे भई मुझे तो इनकी पहचान ज़रा भी नहीं है। तुम्हारी भाभी और तुम घटिया चीज़ मत खरीदना और बाद में मुझे दोष भी न देना।" फिर स्नेहमयी दृष्टि से उनकी ओर देखकर ठहाका मारकर हंस दिया। यह हंसी अमित तथा अवकाश में तो ठहाके की थी किन्तु राकेश तथा अर्चना में दबी सी थी।

"मुझे भी बहुत पसन्द है।" राकेश ने साड़ी को अपने हाथ में लेते हुए कहा।

"एक ही खरीदनी है क्या? घर में तो बहुत कुछ हिसाब-किताब हो रहा था।" अमित ने कुछ सोचते हुए गम्भीर भाव से कहा।

"नहीं, यह एक और पसन्द करके रखी है।"

"क्यों राकेश तुम्हें भी पसन्द है ?" अमित ने उसकी ओर प्रश्नसूचक दृष्टि से देखते हुए कहा।

"हां पसन्द हैं।" राकेश ने स्वीकृति में सिर हिलाते हुए कहा।

"अवकाश इन्हें पैक कर दो।" उसने दोनों साड़ियां लिफाफों में पैक करके उनके सामने काउण्टर पर रख दीं तथा स्वयं बिल बनाने में तल्लीन हो गया।

"कितने पैसे हुए ?" अमित ने पूछा।

"४८५ रु०"। अर्चना ने बिल पकड़ते हुए तथा उसे ध्यान से देखते हुए कहा।

अमित ने झट से कोट की जेब से पर्स निकाला और सौ-सौ के पांच नोट लापरवाही से अवकाश के सामने फेंक दिए।

"ओ. के. थैंक्यू, अवकाश।" अमित ने चलने के लिए विदा मांगते हुए अपना हाथ अवकाश की ओर बढ़ाते हुए कहा।

"चल रहे हो। थोड़ा रुक जाओ। कुछ ठंडा या गर्म···क्यों भाभी जी ?"

अवकाश की आवाज़ मिमियाती सी लग रही थी।

"नो थैंक्स ! फिर कभी सही।" वे तीनों एक साथ बोले थे और दुकान से बाहर चले गए थे।

उनके चले जाने के बाद अवकाश सोच रहा था कि मित्रता तब तक ही निभती है जब तक दोनों एकसाथ पढ़ते हों अथवा बेकार घूमते हों या एकसाथ, एक ही पद पर काम करते हों। यहां इसका अभाव हो तो मित्रता कैसे निभ सकती है ? यही कारण थे कि उनकी मित्रता अब पहले जैसी न रहकर दूर से ही बनी हुई थी। अमित अब अच्छे पद पर नियुक्त हो गया था तथा तबादला हो जाने पर अवकाश से बिना मिले ही चला गया था—क्योंकि अवकाश सेल्ज़मैन का सेल्ज़मैन ही बना रहा था।

आज अमित जब उसकी दुकान में आकर उससे मिला था तो उसे लगा कि अमित अब वह अमित नहीं रहा—पीले तथा शुष्क मुख वाला और दुबला-पतला दया से परिपूर्ण अमित अब कितनी लालिमा, कितने निखार तथा कितने गर्व एवं अहंकार से भर गया था। अब तो उसे सभी लोग अपने से घटिया ही लगते थे। निःसंदेह वह अवकाश से हंस कर बातें तो कर रहा था किन्तु फिर भी उसके मुख पर विरक्ति तथा अहं की रेखायें स्पष्ट दीख रही थीं। अवकाश ने भी सहज होने का नाटक ही तो किया था।···

···"अमित चलो, जल्दी करो छः बज गये हैं। पिक्चर शुरू होने वाली है।" अवकाश ने काउण्टर पर बाजू रखे तथा टेक लगाकर टेढ़ी मुद्रा में खड़े अमित के कन्धे को हिलाते हुए कहा।

हाथ के दृढ़ स्पर्श से अमित की स्वप्नावस्था टूट गई। अब उसके सामने वास्तविकता का वही स्वरूप (जो अब उसे अत्यन्त कुरूप प्रतीत हो रहा था—एक मनोहर कल्पना के पश्चात्) आ गया था। वही दुकान, वही लोग जो लापरवाही से जेब में से पर्स निकाल कर तथा नये पुराने नोट बड़े गर्व से गिन कर खरीदे हुए कपड़ों का दाम चुका रहे थे और उनके बीच में वह स्वयं खड़ा था, एक काउण्टर के साथ टेक लगाकर—हृदय में अनेकानेक कल्पनाएं लिए, अनेकानेक महत्त्वाकांक्षाएं लिए।

''ओह ! अच्छा चलो।'' अमित ने चौंकते हुए कहा।

सूर्य अस्ताचल में ढल चुका था तथा अंधेरे की चादर फैलना शुरू हो गई थी। आकाश निर्मल होने के कारण चांद भी अपनी स्वर्णिम शीत-युक्त रश्मियों को बिखेर रहा था, जिनसे शरीर में कंपकंपी सी लग जाती थी।

दोनों साथ-साथ मौन धारण किये हुए बड़ी उत्सुकता के साथ डग भरते हुए दुकान से बाहर निकल कर खुले दालान को पार करते हुए सिनेमा हाल की ओर लपक लिए थे। उनका प्रत्येक डग एक विचित्र उत्साह के साथ भरा था, वह उत्साह जो युवा पीढ़ी के प्रत्येक प्राणी में होता है—फिर चाहे वह किसी भी क्षेत्र में हो।

''लो पैसे, टिकटें खरीद लो।'' अवकाश ने अपनी जेब से पर्स निकाल कर पैसे अमित को देते हुए कहा।

अमित ने उसे रोक दिया तथा अपनी जेब से पैसे निकालते हुए कहा—''नहीं भाई ! आज तो बस अमेरीकन सिस्टम··· !''

—

भ्रम

—श्याम लाल रै

तुम अंदर सोए हुए हो
और मैं बाहर से
आ रहा हूँ,
तुम कहते हो अंधेरा है
सवेरा ला रहा हूं।
तुम्हें सोने की पड़ी है
मुझे जगाने का
शौक है,
न जागने पर पाबंदी है
और
न सोने पर रोक है,
अब जागो
बिस्तर त्यागो
कमरे की खिड़कियां
दरवाज़े खोलो
थोड़ा टहलो
थोड़ा भागो
सूरज की तरह
जो हर रोज
अपना सफर एक दुनिया
से शुरू करता है
और समय
पर दूसरी दुनियां
का कारोबार
चलाता है
उसके चले जाने
पुनः आने का
केवल
एक मात्र
भ्रम है
इसीलिए तुम
कमरा बंद
करके कहते
हो अंधेरा है,
वास्तविकता
को पहचानना है
तो मेरे साथ
बाहर आओ
यहां सवेरा है।

पुकार

—राज ऋशि शर्मा

मेरी पुकार पर
पौधों के पत्ते गिरना बन्द हो गए हैं
मैंने भी उन्हें चुनना बन्द कर दिया है।
आज कल फूलों से मुझे प्यार हो गया है
फिर भी यह कांटे चुभना नहीं छोड़ते,
चाहता हूँ कि इनकी चुभन मिटा दूँ
पर इनको जड़ से उखाड़ना सम्भव नहीं,
काटना भी सम्भव नहीं,
नाक से घिसना भी सम्भव नहीं,
इस से मेरे अहं की मौत हो जाती है
और मैं जीना चाहता हूँ
बिना आघात के ही इसे मारना चाहता हूँ
ताकि,
यह कांटे भी फूल बन सकें,
फूलों की भांति मुझसे प्यार कर सकें,
जिस प्यार को मैं सहेज कर रखूं
कांटों के घावों पर मलने के लिए
जिससे मैं जी सकूं
और, पौधों को पुकार सकूं।

रास्ते

—राजीव शर्मा

रास्ते नहीं मिलते हैं,
मगर मंजिल का पता है
सामान है बंधा हुआ—
मंजिल नहीं,
रास्ते खफा हैं।

मंजिल पर भी पड़े हुए
कुछ काम अधूरे हैं
कुछ प्रश्न हैं दिमाग में,
बस,
उत्तर खफा हैं।

मंजिल पर पहुँच कर
उससे भी आगे जाने का इरादा है,
पर कहां ?
अभी तक मंजिल के रास्ते ही खफा हैं।

फिर भी,
उम्र है थोड़ी, मंजिल बड़ी दूर है
और जाना ?
हाँ !
मंजिल के भी कुछ आगे,
यानि दूर बहुत दूर ...... ।
यह तो बातें हैं दूर की,

रास्ते जो नहीं मिलते हैं।
सहायता आगे बढ़ने में
देता नहीं है कोई।

किसी से पूछो तो भूलभुलैयों में धकेल देता है, हर कोई।
मंजिल फिर भी सबकी एक है
पर रास्तों के बारे में राय
में भेद है।

खुद तो वह चलेंगे नहीं अपने रास्ते पर
भी, पर चुना हुआ 'काल्पनिक रास्ता' उनका एक है
फिर भी
इतना तो हम दाँव लगाकर कहते हैं
हम भी जब रास्ते से रहेंगे नहीं दूर
लगाएंगे दौड़ !
झट !
पलकों के झपकने से पहले,
पहुंच जाएंगे मंजिल से दूर
कहीं बहुत आगे

पर खैर,
यह तो बातें हैं,
रास्तों के कारण क्योंकि हम हैं बड़े मज़बूर।

परिचर्चा

आधुनिक हिन्दी कहानी में सामाजिक बोध

भाग लेने वाले आलोचक/कथाकार : डॉ० महीप सिंह, डॉ० राम दरश मिश्र
संचालन : रमेश मेहता

रमेश मेहता : डॉ महीप सिंह और डॉ० राम दरश मिश्र को आज आधुनिक हिन्दी कहानी में सामाजिक बोध विषय पर बातचीत करने के लिए आमन्त्रित किया गया है। हिन्दी कहानी, यह माना जाता रहा कि समाज से बहुत जुड़ी हुई है और समाज के भीतर जो विडम्बनाएं, विसंगतियां हैं उनको उजागर करने में इसने एक बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। डॉ० महीप सिंह से मैं यह जानना चाहूंगा कि समकालीन कहानी में यह सामाजिक बोध किस स्तर पर उकेरा गया है और इसे किस रूप में अंकित किया जा रहा है।

डॉ० महीप सिंह : रमेश जी, आपने ठीक कहा कि समकालीन हिन्दी कहानी या समग्र रूप से हिन्दी कहानी ने हमारी सामाजिक विसंगतियों और विडम्बनाओं को बहुत अच्छे ढंग से उभारा है। जहां तक सामाजिक बोध का सवाल है मैं समझता हूँ कि हिन्दी की प्रारम्भ से ही जो लिखी जा रही कहानियां हैं उनमें सामाजिक जीवन किसी न किसी रूप में चित्रित किया जाता रहा है : सामाजिक समस्याओं को लिया जाता रहा और उनके निदान भी ढूंढने की कोशिश की जाती रही है। पर प्रेमचन्द के समय से सिर्फ समस्याओं के निदान ढूंढना ही कहानीकार के लिए पर्याप्त नहीं रहा : कोशिश यह की जाने लगी कि यह जो सामाजिक समस्याएं हमें ऊपर से नज़र आती हैं इनके पीछे बृहत्तर सामाजिक संदर्भ क्या

हैं ? ऐसी कौन सी वह सामाजिक व्यवस्था है जिसके कारण ऐसी समस्याएं पैदा होती हैं ? और तब कथाकार की दृष्टि समस्याओं तक सीमित नहीं रही बल्कि सामाजिक जीवन में वह व्यवस्था जिसके कारण वह समस्याएं पैदा होती हैं, उधर उसने जाने या इशारा करने की कोशिश की। और शायद प्रेमचन्द की **कफ़न** कहानी इस दृष्टि से बहुत उल्लेखनीय कहानी है।

रमेश मेहता : वह तो मील-पत्थर है।

डॉ० महीप सिंह : हां, उसे एक प्रकार का मील-पत्थर ही मानना चाहिए। पर मैं मानता हूँ कि प्रेमचन्द के बाद सामाजिक बोध की और सामाजिक दृष्टि की कहानियों का विकास काफी अच्छे ढंग से हिन्दी में हुआ—यशपाल की कहानियों में, उपेन्द्रनाथ अश्क की कहानियों मे, भैरव प्रसाद गुप्त की कहानियों में, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र की कहानियों में…और आगे चलकर हमारे सामाजिक जीवन का भ्रष्टाचार, जाति-व्यवस्था की सारी बातें फिर पारिवारिक सम्बन्धों में जो बदलाव आ रहा था और उन सारे पारिवारिक सम्बन्धों में अर्थ कैसे प्रधान होता चला गया और उसके सामने जो हमारे मानवीय सम्बन्ध थे वे कैसे शिथिल होते चले गए…ऐसी बहुत सारी कहानियां हिन्दी में लिखी गईं जिन्होंने हमारे सामाजिक जीवन, हमारे सम्बन्धों को एक नई दिशा दी। राम दरश जी आप यहां हैं तो समकालीन कहानी में विशेष रूप से इन संदर्भों की रेखांकित की जा सकने वाली कहानियों की चर्चा करें।

डॉ० राम दरश मिश्र : डॉ० महीप सिंह, आपने यह बात ठीक कही है कि आज़ादी के बाद की जो कहानी है, जिसे हम आधुनिक कहानी या समकालीन कहानी कहते हैं, इसमें सामाजिक संदर्भों के दर्शन बहुलता से होते हैं। आपने प्रेमचन्द का भी संदर्भ उठाया तो मैं यहां कहना चाहूंगा कि प्रेमचन्द हो या यशपाल…उनमें सामाजिक जीवन का यथार्थ बड़ी गहराई से आंकित तो है लेकिन आज़ादी के बाद कथाकार ने यथार्थ को अपने परिवेश में जी करके प्राप्त किया। इतना ही नहीं, उसने प्रेमचन्द से एक चीज़ और ली वह यह कि हमारे सामाजिक यथार्थ के मूल में अर्थ है। आपने ठीक इंगित किया कि हमारी सारी समस्याओं के मूल में अर्थ है। मैं समझता हूं कि हमारे समाज के अनेक आयाम हैं, उसके अनेक पहलू हैं लेकिन शुरूआत होती है—हमारे पारिवारिक सम्बन्धों से जिन में काफी

बदलाव आया है और मैं मानता हूं कि सम्बन्धों के इस बदलाव के मूल में भी अर्थ ही है। मेरे सामने हिन्दी की कई कहानियां हैं जैसे भीष्म साहनी की कहानी '**चीफ की दावत**' है, उषा प्रियम्बदा की कहानी है "**वापसी**", या नरेन्द्र कोहली की कहानी है '**शटल**'। ऐसी अनेक कहानियां हैं। '**चीफ की दावत**' कहानी में आप देखते हैं कि पैसे के आधार पर ही मां के साथ बेटे का सम्बन्ध कुछ बदला हुआ दिखाई पड़ता है। बेटा चाहता है—मां उसकी तरक्की का साधन बने। अफसर उसके यहां दावत पर आने वाले हैं और मां जैसी एक बूढ़ी और फालतू चीज़ शायद उपस्थित रहेगी तो अफसर को बुरा लगेगा। अफसर तरक्की देने वाला है। तरक्की में पद भी बढ़ता है और पैसा भी। वह जब देखता है कि वही अफसर उस मां से खुश है और मां से खुश हो करके मां की तारीफ करता है तो बेटे को लगता है कि मां तो तरक्की का साधन बन सकती है।

रमेश मेहता : उसकी दृष्टि में पूर्णरूपेण परिवर्तन हो जाता है।

डॉ० राम दरश मिश्र : हां। वह मां की उपेक्षा करता है या अपेक्षा— दोनों के मूल में उसका वह अर्थबोध है जो उसे पद-विशेष से प्राप्त होने वाला है। ऐसी अनेक कहानियां हैं और मैं समझता हूँ कि हमारे समाज के यथार्थ के अनेक पहलू हैं जिन पर हम लोग विचार कर सकते हैं। डॉ० महीप सिंह, मैं आपसे एक सवाल पूछना चाहूँगा कि इधर हमारे समकालीन जीवन का एक जो राजनीतिक पहलू है वह बड़ा महत्त्वपूर्ण है क्योंकि राजनीति ने हमारे परिवार से लेकर समाज तक और हमारी सम्वेदनाओं से लेकर हमारे मूल्यों तक को प्रभावित किया है। और मैं समझता हूँ कि हिन्दी में अनेक ऐसी कहानियां हैं जो हमारे······

रमेश मेहता : ···राजनीतिक चरित्र को उजागर कर रही हैं।

डॉ० महीप सिंह : राम दरश जी, आपने जब '**चीफ की दावत**' कहानी का उल्लेख किया तो उसी के साथ एक और बात मुझे याद आई कि '**चीफ की दावत**' कहानी जहां एक ओर उस पारिवारिक तंत्र में अर्थ का जो महत्व है उसको रेखांकित करती है, वहीं दूसरी ओर एक बड़े महत्वपूर्ण सांस्कृतिक तथ्य की ओर भी संकेत करती है। वह इस दृष्टि से कि आज के युग में हम अपनी उन्नति के संधान में अपनी परम्परा से जो प्राप्त चीज है उसे त्याज्य मान बैठे हैं। जैसे उस घर में बूढ़ी मां त्याज्य है। हम सारी दुनिया को अपना आधुनिक

रूप तो दिखाना चाहते हैं, परन्तु अपना परम्परागत रूप छिपाकर रखना चाहते हैं। पर शायद दुनिया हमारे आधुनिक रूप में उतनी रुचि नहीं ले रही है जितनी कि हमारे परम्परागत रूप मे·· जो हमारी थाती—अच्छी या बुरी जैसी भी है—में ले रही है। इसी लिए अगर अफसर प्रभावित होता है तो वह डायनिंग-टेबुल से नहीं होता बल्कि मां की फुलकारी से होता है। मैं समझता हूं कि ऐसी कहानियों ने हमें यह दृष्टि दी कि जो कुछ भी हमारे पास है उसे हम बहुत छोटा करके, नगण्य करके न देखें—उसमें भी हमारा कुछ है। आखिर तो हमारा व्यक्तित्व उसी से बना है। तो उसको भी हम अपना कर चलें—आवश्यकतानुसार कांट-छांट करके ही सही। आपने जो यह बात कही कि राजनीतिक चरित्र ने हमें किस रूप में प्रभावित किया—मैं समझता हूँ कि शुरू से ही हिन्दी में ऐसी कहानियां लिखी जाती रही हैं। मुझे बंगाल के अकाल पर लिखी यशपाल की कहानी **'महादान'** स्मरण हो आई है जिसमें एक आदमी एक तरफ तो लाखों मन अनाज अपने गोदामों में भरे हुए है जिसकी वह कालाबाज़ारी कर रहा है और दूसरी तरफ सुबह तीन बोरे चने लोगों में बंटवा रहा है और दान का झूठा सुख पा रहा है। ऐसी जो हमारी विडम्बना की तस्वीर है वह बहुत सी कहानियों में हैं।

रमेश मेहता : चरित्र का यह दोगलापन हिन्दी कहानी में बड़ी मार्मिकता से उभारा गया है।

डॉ० महीप सिंह : न्याय-व्यवस्था में जो बेहिसाब भ्रष्टाचार भर गया है···दो मासूम बच्चों की अबोधता के माध्यम से, उस सारे भ्रष्टाचार को जैसे बिलकुल परत दर परत खोलने वाली कहानी विष्णु प्रभाकर की है—**धरती अब भी घूम रही है** और ऐसा लगता है कि सचमुच हमारी आंखों के सामने धरती घूमने लग जाती है। मैं समझता हूँ कि इस बीच हमारे देश का जो राजनीतिक चरित्र बना—बल्कि कहना चाहिए कि बना नहीं, दिन पर दिन बिगड़ा—उस बिगड़े हुए चरित्र पर बहुत अच्छी कहानियां हिन्दी में लिखी गईं। हरि शंकर परसाई के बहुत सारे व्यंग्य इस सारे चरित्र को उद्‌घाटित करने वाले हैं। गिरिराज किशोर की कहानी **'पेपरवेट'** या **'काला चश्मा'** या माचवे की भी कई कहानियां इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। मुझे यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र की एक कहानी याद

आती है **'महापुरुष'**। एक आरिगपूड़ि की कहानी भी है—**'पवित्र पुरुष'** ···कि राजनीति में आया हुआ व्यक्ति, जब उसे सत्ता मिलती है और धन मिलता है तो किस प्रकार भ्रष्ट होकर या तो धन को और अधिक जमा करने के पीछे दौड़ता है या सत्ता का उपयोग अपनी वासना की तृप्ति के लिए अधिक रूप से करना चाहता है। पर उसी बीच में, इस प्रकार की कहानियों के साथ, बहुत गहरे मानवीय संवेदन की कहानियां भी लिखी गईं जो राजनीतिक चरित्र से प्रभावित तो जरूर थीं पर उनके अन्दर हमने बहुत गहरी मानवीय करुणा भी देखी। मैं समझता हूँ कि विभाजन पर हमारे देश में जो कहानियां लिखी गईं उन्होंने इस व्यापक मानवीय करुणा का बहुत अच्छा चित्रण किया।

रमेश मेहता : महीप भाई! यदि आप मुझे आज्ञा दें तो मैं कहना चाहूँगा कि राजनीतिक चरित्र की बात से पहले आपने एक बात उठाई कि हमारे पारिवारिक सम्बन्धों में आज अर्थ-तंत्र ने इतना प्रवेश पा लिया है कि उनमें पूर्णतया परिवर्तन हो गया है। इसे लेकर मेरे मन में संशय है। मन्नू भंडारी की कहानी **ऊंचाई** तो आपने पढ़ी ही होगी, उसमें और आपकी अपनी कहानी **सन्नाटा** में जो भेद है वह मेरी बात को स्पष्ट करने में सहायक होगा···सन्नाटा में जो अजनबीपन है—मां और बेटी में—वह आर्थिक तनावों और महानगरीय परिवेश का एक नमूना पेश करता है लेकिन 'ऊंचाई' कहानी बिल्कुल दूसरे स्तर पर खड़ी है। वह कलाकार जो नायिका के पास आता है, उसके साथ नायिका किसी भी तरह आर्थिक रूप से जुड़ी हुई नहीं है लेकिन पति और पत्नी के सम्बन्धों में उसके कारण एक दरार पड़ती जा रही है। मैं चाहूंगा कि आप इस पर भी थोड़ा प्रकाश डालें कि आर्थिक तंत्र से परे भी कुछ ऐसी स्थितियां हैं, कुछ ऐसे मनोभाव हैं जो हमारे परिवार के बीच दरार पैदा कर रहे हैं···

डॉ० राम दरश मिश्र : रमेश जी, आपने यह बात ठीक ही कही कि कुछ कहानियां हिन्दी में ऐसी भी हैं जो अर्थ-तंत्र के दबाव से मुक्त होकर किन्हीं और दबावों से गुजर रही हैं। जैसे मोहन राकेश की कहानी है—**एक और जिन्दगी**। अब बहुत बारीकी से या दूर तक देखें तो अर्थ का दबाव यहां पर भी है लेकिन यहां जो परिवार का सम्बन्ध टूटता है उसके मूल में अहं की टकराहट है। पत्नी स्वावलम्बिनी है, शिक्षिका है। मैंने कहा कि अर्थ का दबाव यहां भी है। नारी

पहले अर्थ की दृष्टि से पुरुषों के अधीन थी किन्तु अब अर्थ के ख्याल से वह पुरुषों के समकक्ष है इसलिए उसमें स्वाभिमान और स्वावलम्बन का भाव जाग रहा है। इसलिए अहंकार भी जाग रहा है। पुरुष आज भी अपनी उसी पारम्परिक मानसिकता को लेकर उसके पास जाना चाहता है। नारी न उसे स्वीकार करती है और न उसके इस स्वभाव को। ऐसे में टकराव होना आवश्यक है। तो इस कहानी में अहं की टकराहट है। ऐसी अनेक कहानियां हमारे परिवार के सम्बन्धों की हो सकती हैं लेकिन अर्थ का बिन्दु मूलतः कहीं न कहीं उसमें अवश्य होता है। डॉ० महीप सिंह ने **'धरती अब भी घूम रही है'** कहानी का ज़िक्र किया। मैंने कहा था कि राजनीति का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। वह केवल विधान सभा, लोक सभा या नेताओं तक ही सीमित नहीं है। यह राजनीति हमारे जीवन के तमाम आयामों को प्रभावित कर रही है जैसे अफसर हैं या न्याय-व्यवस्था है। यह सब इस राजनीति से प्रभावित हैं। 'धरती अब भी घूम रही है' कहानी का ज़िक्र किया गया। मैं इस बात को थोड़ा आगे बढ़ाते हुए कहना चाहूँगा कि चाहे इस सन्दर्भ की कहानी हो या उस सन्दर्भ की···नयी कहानी के मूल में मूलतः हम यातना-बोध देखते हैं। यानी टूटन और विघटन आदि की यातना का अनुभव कहानियां उभारती हैं। आगे चलकर आप देखते हैं कि इस सन्दर्भ में एक विद्रोह का स्वर भी उभरता है। जैसे मैं यह कहना चाहूँगा कि राकेश की एक कहानी है— **'परमात्मा का कुत्ता'**। यह कहानीकार नयी कहानी के दौर का है लेकिन आगे चलकर यह भी महसूस करता है कि शायद खाली नियति के उद्घाटन से काम नहीं चलेगा, इसके खिलाफ कुछ करना पड़ेगा और इस कहानी में एक सरदार जी आते हैं कचहरी में कागज़ निकलवाने के लिए। बेचारे महीनों से दौड़ रहे हैं लेकिन कुछ नहीं हो रहा। एक दिन वह आते हैं तैश और विद्रोह की भंगिमा में और अपना कागज़ पा लेते हैं और औरों से कहते हैं— तुम लोग क्या देखते हो बिटर-बिटर···यह कुत्ते हैं, आदमी कुत्ते हैं। तुम कुत्ते परमात्मा हो, भौंको इन पर। तब तुम्हारा काम होगा। साठ के बाद के कहानीकारों की ऐसी अनेक कहानियां देखी जा सकती हैं। जैसे अब्राहीम शरीफ की कहानी है **दिग्भ्रमित** या **हरम**। मेरा ख्याल है कि हम इस दिशा में बातचीत को थोड़ा आगे बढ़ाएं तो बेहतर रहेगा।

डॉ० महीप सिंह : मैं समझता हूं कि आपने बड़ी सही बात कही है कि नयी कहानी के दौर में वह जो एक विवशता, एक पीड़ा की अभिव्यक्ति है, पीछे से टूट कर आदमी जिस दौर में से गुजर रहा है उसकी सारी वेदना है, बाद में चलकर हमने सचेतन कहानी के माध्यम से इसी तथ्य को स्थापित करना चाहा कि आदमी सचेतन रूप से सारी स्थितियों को ग्रहण करता है•••वह उसके प्रति किसी न किसी रूप में अपनी प्रतिक्रिया भी जाहिर करता है। पर मैं समझता हूं कि ऐसी वह सारी कहानियां जो बाद में आईं जिनमें अस्वीकार का बोध है, जिसमें व्यक्ति किसी न किसी रूप में अपना विरोध—चाहे मूक ही सही—व्यक्त करना चाहता है। अभी मैं एक कहानी की अक्सर चर्चा किया करता हूँ···अब्दुल बिस्मिल्ला की कहानी **तलाक के बाद**। एक समाज की एक व्यवस्था बनी हुई है। पति-पत्नी के बीच तलाक हो चुका है परन्तु पति-पत्नी दोनों ही तलाक नहीं चाहते हैं और ऐसी भी संसार की कौन सी व्यवस्था है कि पति-पत्नी साथ रहना चाहें, एक-दूसरे से प्रेम करना चाहें और कोई व्यक्ति आकर अपने कारण से उनको तलाक दिलवा दे। वह कहते हैं कि हमें यह व्यवस्था स्वीकार नहीं है। अब आप देखिए कि यह व्यवस्था या शरीयत की कोई भी व्यवस्था सदियों से चली आ रही व्यवस्था है। उसके विरुद्ध एक आदमी आवाज उठाता है कि मुझे यह व्यवस्था स्वीकार नहीं है क्योंकि मैं अपनी पत्नी के साथ रहना चाहता हूं और पत्नी भी मेरे साथ रहना चाहती है। इसलिए यह जो अस्वीकार का बोध है वह धीरे-धीरे बढ़ा और मैं कहूँ कि इन दिनों—जब अपने देश में इमर्जेंसी लगी हुई थी—ऐसी बहुत सी कहानियां लिखी गईं जिन्होंने किसी न किसी रूप में उस व्यवस्था का विरोध किया, उसके प्रति अपनी प्रतिक्रिया जाहिर की। प्रभु जोशी की एक कहानी मैंने 'धर्मयुग' में उस समय पढ़ी थी—**अलग-अलग तीलियां**। उसमें एक पेंटर है जो अपने ही शहर के मेयर—जो हर व्यक्ति पर अत्याचार कर रहा है—का खुले आम चित्र बनाकर उसको उसके हाथ में एक राक्षस जैसी स्थिति बनाकर, बता देता है और यह घोषित कर देता है कि वह व्यक्ति जो आज राक्षस है 'पशु-बल के आधार पर शासक बना हुआ है अतः उसे सत्ता में रहने का कोई अधिकार नहीं है। पशु-बल का विरोध करने वाली भी बहुत सी कहानियां इस बीच हमारे सामने आई हैं।

डॉ० राम दरश मिश्र : आपने 'तलाक के बाद' कहानी का जिक्र किया। इस सन्दर्भ में एक बात उल्लेखनीय है कि इन दिनों या समझिए कि आज़ादी के बाद, मैंने कहा था कि परिवेश की ज़िन्दगी को जी कर कहानियां लिखी गईं। **तलाक के बाद** का लेखक उस जगह से आता है, उस कौम से आता है जहां यह चीज़ें होती हैं। शायद हम लोग यह कहानी लिखते तो यह सचाई उस तीव्रता से नहीं उभर पाती। इस कहानी के माध्यम से दो खास बातें उभरती हैं। पहली बात तो यह कि हम जिस परिवेश में हैं, उस परिवेश की सचाई को ही शायद ईमानदारी से दे सकते हैं। और इसी संदर्भ में मैं विभाजन की कहानियों का ज़िक्र करना चाहता हूं। हम देखते हैं कि विभाजन से सीधे जिनका सरोकार था या मनसा सरोकार था, उन लोगों ने कहानियां लिखीं और आप जानते हैं कि इतनी बड़ी विडम्बना, इतनी बड़ी घटना की सारी विभीषिका को, सारे मानवीय दर्द को, सारी विसंगति को, त्रासदी को हिन्दी कहानीकारों ने उद्घाटित किया। डॉ० महीप सिंह ने बड़ी अच्छी बात कही कि आदमी बहुत दिनों तक अन्याय को या अपनी इच्छा के विरुद्ध जो चीज़ लादी गई है—उसको सहन नहीं कर पाता। इनकी कहानी **पानी और पुल** इसी बात की गवाही देती है। यहां यह दृष्टव्य है कि 'तलाक के बाद' में जैसे पति और पत्नी की इच्छा के विपरीत उन पर तलाक लादा गया वैसे ही जनता की इच्छा के खिलाफ उस पर विभाजन लादा गया और वही मुसलमान लोग अपने बीच आने वाले उस हिन्दु को कितनी उष्मता से गले लगाते हैं, कितने प्यार से याद करते हैं। यह कहानी अपने ढंग से इस बात को प्रमाणित करती है कि बहुत दिन तक आदमी अपने ऊपर लादे गए अत्याचार को बरदाश्त नहीं करता है। उसका विरोध वह कई तरह से करता है—सीधे या प्रकारान्तर से। यह कहानी प्रकारान्तर से अपने ऊपर लादे गए दबाव का विरोध करती है।

रमेश मेहता : मेरे ज़ेहन में एक और बात आ रही है कि इधर, हम सामाजिक बोध की बात कर रहे हैं, यह कहा गया कि आंचलिक कहानीकार—जैसे फणीश्वर नाथ 'रेणु', नागार्जुन और डॉ० राम दरश मिश्र ने भी इस प्रकार की कुछ कहानियां लिखीं—यह माना गया कि वे हमारे उस परिवेश का बिल्कुल जीवन्त चित्रण करते हैं और कि उन्होंने हमारी व्यथा-कथा को बड़ी सशक्त

अभिव्यक्ति भी दी है। यह जो आंचलिक कहानियां हैं, जैसे ठुरीम, तीन बिंदियां, एक आदिम रात्रि की महक या तीसरी कसम आदि, क्या सचमुच शेष प्रकार की कहायियों की तुलना में सामाजिक-बोध से ज्यादा जुड़ी हुई हैं।

डॉ० महीप सिंह : प्रारम्भ में ही डॉ० राम दरश जी ने एक बात कही थी कि सामाजिक बोध के अलग-अलग आयाम हैं। कहीं पारिवारिक सन्दर्भों में, कहीं राजनीतिक सन्दर्भों में और कहीं बदलते हुए गांव के सन्दर्भों में और कहीं जाति-प्रथा के सन्दर्भों में—और भी बहुत से आयाम हैं। आंचलिक कहानियों ने विशेष रूप से अंचल के सन्दर्भों में उस सामाजिक बोध को उभारा है। आपने **तीसरी कसम** का ज़िक्र किया। 'तीसरी कसम' में एक गाड़ीवान और एक नाचने वाली है। हम जानते हैं कि एक पारिवारिक गाड़ीवान और एक नाचने वाली जो समाज से बहिष्कृत है किन्तु समाज में जिसका महत्व भी बहुत है—इन दोनों का मिलन सम्भव नहीं। परन्तु उस कहानी के माध्यम से उनके बीच में एक तादात्म्य, एक सम्बन्ध, बन गया है जो नितान्त भावात्मक स्तर पर है, मानवीय स्तर पर है जिसके पीछे न गाड़ीवान गाड़ीवान रह जाता है और न वेश्या वेश्या रह जाती है। दोनों ही मानवीय स्तर पर मिले हैं। परन्तु समाज उन्हें मिलने नहीं देता। मैं समझता हूं कि आखिर में हिरामन जैसा नायक जब यह कहता है कि मैं यह भी नहीं करूंगा और यह भी नहीं करूंगा और तीसरी बार कसम खाकर कहता हूं कि मैं किसी ऐसी नाचने वाली को अपनी गाड़ी में नही बिठाऊंगा तो वह आक्रोश उस नाचने वाली के प्रति नहीं है—उसके माध्यम से उस सारी सामाजिक व्यवस्था के प्रति है जो मनुष्य को मनुष्य से मिलने इसलिए नहीं देती कि आपकी जाति या सामाजिक प्रतिष्ठा अलग-अलग स्तर की है।

डॉ० राम दरश मिश्र : एक बात मैं भी जोड़ना चाहूंगा कि प्रेमचन्द की **कफन** से इतर जो कहानियां हैं उनमें आपको समाज व्यवस्था के खिलाफ सीधे ये बात मिलेगी। आपका कहना है कि समाज मिलने नहीं दे रहा। मैं कहता हूं कि हिरामन का संस्कार इतना प्रबल है कि वह स्वयं भी जानता है कि वह यदि आगे बढ़े भी तो बात सम्भव नहीं होगी। दोनों की स्थितियां तो स्वीकार की हैं किन्तु नियति अस्वीकार की है। दोनों जानते हैं कि हम मिल नहीं पायेंगे।

डॉ० महीप सिंह : इसीलिए तो वह आक्रोश उस नियति के विरुद्ध है। और अंततोगत्वा उस व्यवस्था के विरुद्ध भी।

रमेश मेहता : नियति तो सामने दिखाई देने वाली चीज नहीं है किन्तु व्यवस्था से तो आप हर समय टक्कर ले रहे होते हैं।

डॉ० राम दरश मिश्र : और यह व्यवस्था हमारे भीतर भी उतनी ही है जितनी हमारे बाहर···

डॉ० महीप सिंह : आप यह भी तो जानते हैं कि व्यक्ति की नियति व्यवस्था के कितने दबावों के कारण बनती है। आप यदि मुझे क्षमा करें तो आप ही की एक कहानी सड़क का उल्लेख करना चाहूँगा। वहां भी एक व्यक्ति है जो कल तक अपने परिवार के बाहर निकल कर भी ब्राह्मण अध्यापक के मानसिक संस्कार से बाहर निकलना नहीं चाहता था। परन्तु अर्थ-तंत्र का दबाव, एक बदलते हुए सामाजिक परिवेश का दबाव उसके संस्कारों को बदलता है। जब उसका बेटा सड़क के किनारे चाय की दुकान खोलता है तो वह भी जाकर उसमें बैठ जाता है। मैं समझता हूं कि यह एक व्यक्ति अथवा एक परिवार का परिवर्तन नहीं अपितु यह परिवर्तन हमारी उस सारी मानसिकता का है वह मानसिकता जिसने हमें बीच-बीच में खंडित कर रखा है। तो यह सारी की सारी कहानियां हमारे बदलते हुए बोध, कहें कि वृहत्तर सामाजिक बोध के साथ हमें जोड़ कर जो बदलता हुआ हमारा समाज है उसका सही सही चित्रण करती हैं।

रमेश मेहता : आपकी इस बातचीत को सुनने के बाद मुझे आशा करनी चाहिए कि भविष्य में भी हिन्दी कहानी अपने इस दायित्व को भली भांति निभाती रहेगी।

रेडियो कश्मीर जम्मू से १३ अक्तूबर १६७६ को प्रसारित। आकाशवाणी के जम्मू केन्द्र से साभार।

आपकी बात

★

★ शीराज़ा-४८ मिली। विविधता के नाम पर आपने संस्कृत साहित्य से सम्बन्धित जो लेख प्रकाशित किए हैं उनकी उपयोगिता समझ में नहीं आती। इसी प्रकार पिछले कुछ अंकों में हिन्दी साहित्य में नारी की भूमिका, विशेष रूप से हिन्दी कहानी में चित्रित नारी, को लेकर आपने जो लेख प्रकाशित किए हैं या कि विचार कविता के समर्थन में भी जो लेख प्रकाशित किए हैं वे सब ऐसा सोचने के लिए बाधित करते हैं कि आपको अवसरानुकूल विविधतापूर्ण सामग्री नहीं मिल रही है। अपने लेखकों से अनुरोध करें कि वे पिष्टपेषण से परहेज़ करते हुए आपको भी पिष्टपेषण करने का दोषी होने से बचाएं। मेरी बातें आपको कड़वी लग सकती हैं किन्तु इन्हें प्रकाशित करके कम से कम अपनी सम्पादकीय ईमानदारी का परिचय अवश्य दें।

—प्रमोद शर्मा

आर्यपुरा, सब्जी मंडी, दिल्ली

★ शीराज़ा-४८ अंक की प्रति मिली है। आभारी हूं। काफी सामग्री पढ़ ली है। कुछ ही सरकारी पत्रिकाएं हैं जो लगातार पठनीय सामग्री जुटा रही हैं। शीराज़ा उनमें एक है। इसका श्रेय सम्पादक को जाता है। मेरी बधाई स्वीकारें।

कविताएं बेहतर जुटाएं। 'कविता में विद्रोह' जैसे विषयों पर बेहतर और गम्भीर लेख जुटाएं जो कविता के व्यापक क्षेत्र को समेट कर चलते हों।

—दिविक रमेश

बी-५७, अमर कालोनी, लाजपत नगर, नई दिल्ली-२४

★ शीराज़ा-४८ में 'आपकी बात' के अंतर्गत डॉ० चन्द्रशेखर का पत्र पढ़ा। उनका पत्र एक महत्त्वपूर्ण मुद्दे की ओर संकेत करता है कि लेखक की ईमानदारी किसी पत्रिका से प्राप्त पारिश्रमिक के अधीन है अथवा लेखकीय निष्ठा के। साधारणत: जब एक लेखक अपनी किसी रचना को किसी पत्रिका विशेष में छपवाता है तो पारिश्रमिक मिलने या न मिलने की बात गौण हो जाती है क्योंकि कोई भी पत्रिका लेखक की अनुमति के

बिना उसकी रचना प्रकाशित करने की भूल नहीं करेगी। अतः लेखक के लिए यही उचित ठहरता है कि वह उस रचना को किसी दूसरी पत्रिका में पुनर्प्रकाशित करवा कर पाठकों के समय और धन का अपव्यय करने से बचे। लेखक को भौतिकतावादी दृष्टिकोण त्याग करके उन नैतिक मूल्यों के अनुसार जीवन जीना चाहिए जिनकी कि वह वकालत करता है। यह केवल पाठकीय तकाज़ा ही नहीं है वरन लेखकीय ईमानदारी का भी तकाज़ा है।

—डॉ० अनिल गोयल
कनक मंडी, जम्मू

★ आप मेहनत और निष्ठा से शीराज़ा का सम्पादन कर रहे हैं और अच्छी रचनाएं प्रकाशित कर रहे हैं—मेरी हार्दिक बधाई ग्रहण करें।

—से० रा० यात्री
एफ/ई-७, नया कवि नगर, गाज़ियाबाद

★ शीराज़ा-४८ उपयोगी लगा क्योंकि इसमें सभी लेख, कहानियां एवं अन्य स्तंभ पठनीय हैं। बलगारियाई कहानी का अनुवाद पढ़कर बहुत खुश हुआ। यह एक सफल प्रयास है और भविष्य में भी इसी प्रकार की कहानियां देते रहेंगे, ऐसी आशा है।

—अवतार कृष्ण राज़दान
८३–पुरुषयार, हब्बाकदल, श्रीनगर

★ शीराज़ा-४८ मिला। काफी बढ़िया बन पड़ा है।

—शिव रैना
सह-सम्पादक, योजना (मासिक), जम्मू

★ …छोटे-छोटे वादों ने हिन्दी कविता का स्वरूप बदल दिया है। जहां तक मैं समझता हूँ, वादों में से कुछ अवसरवादी नाम उभर कर ऊपर आ पाते हैं और बस! आप कविता के प्रति सजग हैं, संतोष की बात है। जम्मू-कश्मीर के नवोदित कवियों को उतना प्रोत्साहन दें कि संतुलन बना रहे।

—केदार नाथ कोमल
ई० ९७, सरोजिनी नगर, नई दिल्ली

★ शीराज़ा का ४८वां अंक मिला। धन्यवाद। 'आधुनिक-अत्याधुनिक' कहानी ने प्रभावित किया। कविताएं भी अच्छी रहीं। दो-एक निबन्धों में उद्धरण संयोजन के मोह के कारण मौलिक दृष्टि दब-सी गई है।
कुशल सम्पादन के लिए बधाई।

—राजकुमार
स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

अकादमी डायरी

★

जम्मू में 'थैंक्यू मिस्टर ग्लाड'

२०-२१ फरवरी १९८० को अभिनव थियेटर, जम्मू में प्रख्यात निर्देशक कवि रत्न के निर्देशन में 'थैंक्यू मिस्टर ग्लाड'' का मंचन किया गया। इस नाटक के माध्यम से पहली बार अभिनव थियेटर की मंचीय संभावनाएं उजागर हुईं और स्टेज के साथ वर्कशाप एरिया के उपयुक्त प्रयोग की सराहना की गई।

नाटक एक ऐंग्लो-इण्डियन जेलर, मिस्टर ग्लाड के माध्यम से क्रान्तिकारियों की व्यथा-कथा कहने के साथ जेल-जीवन को उसकी सम्पूर्णता में अंकित करता है। क्रान्तिकारी वीर भूषण की भूमिका में एच० एल० कोहली, गफ़ूर चाचा की भूमिका में प्रीतम कटोच, जेन की भूमिका में मधु जम्वाल तथा सावित्री की भूमिका में नीतू ने अपनी भूमिकाओं को बखूबी निभाने में अद्भुत सफलता प्राप्त की तो ग्लाड के अंतर्द्वन्द्व को बड़े सधे हुए ढंग से उजागर किया, अपने अभिनय के माध्यम से, कवि रत्न ने।

जम्मू में अखिल भारतीय हिन्दी लेखक सम्मेलन

१६-१७ मार्च, १९८० को अकादमी के तत्त्वावधान में अखिल भारतीय हिन्दी लेखक सम्मेलन का आयोजन किया गया। इसका उद्घाटन हिन्दी के यशस्वी कवि और विचारक श्री अजित कुमार ने किया। अपने उद्घाटन भाषण में श्री अजित कुमार ने इस बात पर प्रसन्नता व्यक्त की कि हिन्दी की सीमाएं फैल रही हैं, पाठकों की संख्या में वृद्धि हो रही है तथा साहित्य-रचना के नए आयाम खोजे जा रहे हैं। उन्होंने कहा कि आज साहित्य को विधाओं के चौखटों में बंद करके देखने का अवसर नहीं है क्योंकि सभी विधाएं अंततः एक रचनात्मक स्तर पर जुड़ जाती हैं। दूसरे, 'क्षेत्रीय' और 'राष्ट्रीय' के बीच भी अब भेद नहीं रह गया है क्योंकि क्षेत्रीय स्तर पर होने वाली रचना को राष्ट्रीय स्तर पर सहज ही स्वीकार कर लिया जाता है। कविता को लेकर बातचीत करते हुए श्री अजित कुमार ने आगे कहा कि रचना को उसी की संरचना के अनुरूप देखने-परखने का प्रयत्न होना चाहिए। 'ऐसा है और ऐसा

क्यों नहीं है अथवा ऐसा होना चाहिए था' जैसे निष्कर्ष अब बोसीदा लगते हैं। कृति को उसकी राह से गुज़र कर ही देखना चाहिए। क्योंकि रचना-प्रक्रिया दो स्तरों पर परिचालित होती है; परिणामस्वरूप एक तो कविता वह है जिसे मैं लिखता हूं या जिसकी मैं रचना करता हूँ और दूसरे वह है जिसे पाठक स्वीकार करता है।

श्री अजित कुमार ने आयोजकों को इस प्रकार का महत्त्वपूर्ण आयोजन करवाने पर बधाई दी और सम्मेलन की सफलता के लिए शुभ कामनाएं भी। तत्पश्चात आपने अकादमी द्वारा प्रकाशित निम्नलिलिखित हिन्दी पुस्तकों का विमोचन किया—

१. शब्द जो तुमने दिए (निबंध)	सम्पादक :	रमेश मेहता
२. प्रतिनिधि पंजाबी कहानियां	,,	,,
३. प्रतिनिधि डोगरी एवं कश्मीरी एकांकी	,,	,,
४. हमारा साहित्य १६७८	,,	,,
५. पोशिमाल (रसूल मीर की कविताएं)	अनुवाद एवं संकलन :	डॉ० रतन लाल शांत

श्री अजित कुमार की अध्यक्षता में सम्मेलन के कार्यक्रम को आगे बढ़ाते हुए अपना पेपर पढ़ा—डॉ० रतन लाल शांत ने। विषय था—'प्रदेश में हिन्दी गद्य लेखन : कल और आज'। इस पत्र पर बहस करने आए विद्वानों ने लगभग एकमत से इस बात पर बल दिया कि प्रदेश में कहानी, निबन्ध आदि गद्य की विधाएं इतनी प्रगति कर चुकी हैं कि अब उन्हें एक ही 'पेपर' में समेट सकना सम्भव नहीं रहा है और इस पेपर की यही सबसे बड़ी कमज़ोरी है। कुछ विद्वानों ने श्री शान्त की इस बात के लिए भी प्रशंसा की कि उन्होंने पहली बार गद्य के विकास को रेखांकित करने के कष्टसाध्य कार्य को करने की दिशा में पहल की है। बहस में सर्वश्री चमन लाल सप्रू, ओम प्रकाश गुप्त, महाराज कृष्ण शाह, देवरत्न शास्त्री, डी० सी० प्रशान्त, शशि शेखर तोषखानी, आदर्श, विनय, हिमांशु जोशी और श्रीमती जनक गुप्ता ने भाग लिया। अपने अध्यक्षीय भाषण में श्री अजित कुमार ने इस बात पर बल दिया कि हमें 'प्रदेश' और 'राष्ट्र' जैसे लेबलों से परहेज़ करना चाहिए। हिन्दी की कविता, कहानी या अन्य किसी भी विधा की रचना, वह देश के किसी भी कोने मे लिखी जाए—हिन्दी की मूल धारा से जुड़ी हुई रचना ही मानी जाएगी। अलबत्ता लेखकों को इस बात की ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए कि वे जिस क्षेत्र में बैठ कर साहित्य-रचना कर रहे हैं, उसकी आशाओं-आकांक्षाओं, राजनीतिक-सामाजिक दबावों तथा उस क्षेत्र विशेष की विशिष्टताओं को अपनी साहित्य-रचना का मूल मुद्दा बना सकें।

सम्मेलन में जो दूसरा पेपर पढ़ा गया उसके लेखक सम्मेलन में उपस्थित नहीं थे। डॉ० रमेश कुमार शर्मा का 'पत्र'—हिन्दी राष्ट्रभाषा के रूप में—पढ़ कर सुनाया श्री रमेश मेहता ने। इस पत्र पर खूब लम्बी-चौड़ी और गर्मागर्म बहस हुई जिसमें सभी भाषाओं के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। भाग लेने वालों में प्रमुख थे—सर्वश्री बलराज पुरी, रतन लाल शांत, मनसा राम शर्मा चंचल, डी० सी० प्रशान्त, मंज़र आज़मी, आदर्श, बलदेव वंशी, डी०

आर० शर्मा, बलदेव सिंह, अयूब प्रेमी। बहस का उत्तर देने के लिए डॉ० शर्मा उपस्थित न थे अतः अपने अध्यक्षीय भाषण में डॉ० ओम प्रकाश गुप्त ने कहा कि "डॉ० रमेश शर्मा के यहां न होने से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा क्योंकि उन्होंने जो बातें कही हैं उनसे हम सब भली प्रकार परिचित हैं। हमने राष्ट्रभाषा की समस्या को सही तौर पर समझने की कोशिश नहीं की है। सरकारी कामकाज की भाषा अपनाने के लिए वस्तुतः किसी भी क्लर्क या अफसर के लिए बीस-पचीस वाक्य लिखना-बोलना सीख लेना पर्याप्त होगा। भाषा के स्तर पर झगड़ा तब होता है जब हमें साहित्यिक पुरस्कारों की आवश्यकता पड़ती है। तब हम यह भूल जाते हैं कि साहित्यिक भाषा और सम्पर्क-भाषा में एक मूलभूत अंतर होता है। मैं यह समझता हूँ कि कोई भी भाषा देश से बड़ी नहीं होती अतः भाषागत खतरों से ऊपर उठकर, भाषा की बलि देकर भी यदि देश को बचाया जा सकता हो तो जरूर बचाया जाना चाहिए। वस्तुतः भाषा तो प्रवहमान है, वह अपना मार्ग स्वयं प्रशस्त करेगी। अतः हमें उसके बारे में अतिरिक्त रूप से चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए।"

"प्रदेश की हिन्दी कविता – राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में" विषय पर अपना पेपर पढ़ा प्रो० सुभाष भारद्वाज ने, श्री हिमांशु जोशी की अध्यक्षता में। पेपर काफी विचारोत्तेजक था और प्रदेश में लिखी जा रही हिन्दी कविता की उपलब्धियों और सम्भावनाओं को रेखांकित करने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण पग भी। 'पत्र' पर हुई बहस में 'आज की कविता' को लेकर बड़ी ही सारगर्भित बातचीत भी हुई जिसमें लगभग बीस विद्वानों ने भाग लिया। अपने अध्यक्षीय भाषण में श्री हिमांशु जोशी ने कहा कि कविता के संदर्भ में बातचीत करने के लिए उसे खण्डों में बांट कर नहीं देखना चाहिए। कविता, वह किसी भी भाषा में लिखी गई हो, सार्वभौमिक साहित्यिक कृति होती है। फिर प्रदेश विशेष के साथ उसे जोड़ कर देखना तर्क अथवा न्याय की दृष्टि से उपयुक्त नहीं होगा। उन्होंने यह भी कहा कि इस पेपर पर हुई बहस इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती है कि लोगों की कविता के साथ कितनी इन्वॉल्वमैंट है और कि वे कविता को लेकर कितना कन्सर्न्ड फील करते हैं। वादों और नारों की भीड़ में फंसने के बावजूद कविता अपना अस्तित्व बनाए हुए है— यह उसकी शक्ति का प्रमाण है।

सोलह मार्च को सायं ७-०० बजे एक कवि-सम्मेलन हुआ जिसमें सर्वश्री विनय, अजित कुमार, बलदेव वंशी, ओम प्रकाश गुप्त, शशि शेखर तोषखानी, अयूब प्रेमी, मोहन निराश, ज्योतीश्वर पथिक, सुतीक्ष्ण कुमार शर्मा 'आनन्दम', पृथ्वी नाथ मधुप, अग्निशेखर, निर्मल विनोद और आदर्श ने भाग लिया। कवि सम्मेलन की अध्यक्षता डॉ० विनय ने की।

सत्रह मार्च (अपराह्न) को डॉ० अयूब प्रेमी की अध्यक्षता में एक एक काहनी गोष्ठी हुई जिसमें निम्नलिखित कहानीकारों ने भाग लिया—

१. श्री हिमांशु जोशी — तलाश
२. श्री हरि कृष्ण कौल — शॉपिंग

३. श्री अशोक जेरथ — शरदोई

४. श्री महाराज कृष्ण शाह — खत

५. श्रीमती उषा व्यास — शेष रहा प्रश्न

सम्मेलन का समापन-सत्र अकादमी के कलाकारों द्वारा, महाकवि सूरदास की स्मृति को समर्पित, **रास लीला** के मंचन से सम्पन्न हुआ। इसका आलेख तैयार किया था श्री रमेश मेहता ने और नृत्य एवं संगीत निर्देशन किया था क्रमशः श्री बंसी डोगरा और श्री ओंकार रैणा ने। निर्देशन श्री जितेन्द्र शर्मा का था और सामान्य देखभाल श्री नरेन्द्र शर्मा ने की। कलाकारों में सूरदास की भूमिका में थे श्री प्रद्युम्न सिंह तथा जसोदा की भूमिका में कु० आशा थापा। कृष्ण एवं राधा का अभिनय क्रमशः ऋतु डोगरा और कुमुद किरण ने किया।

—

क्या आप शीराज़ा के पिछले सभी अंक सम्भाले हुए हैं? यदि नहीं तो हमसे सम्पर्क स्थापित करें। हम आपकी फाइल में से छूट गए अंक भिजवाने में सक्षम हैं।

—सम्पादक

पुस्तकें और पुस्तकें

★

मन्नू भंडारी की कहानियों का संसार[1] कुमारी (डॉ०) अनिल गोयल की समीक्षात्मक कृति है। लेखिका ने मन्नू भंडारी की कहानियों का अध्ययन करते हुए नारी की व्यथा-कथा का आकलन करने की अतुलनीय कोशिश की है। जैसा कि विश्वविद्यालयों में दीक्षा दी जाती है, डॉ० गोयल ने भी अपने प्रबन्ध के लिए आधार रूप में चर्चा वेद-पुराण और स्मृतियों के काल से आरम्भ की है। वस्तुत: लेखिका ने प्रारम्भ से आधुनिक युग तक 'नारी' की यात्रा को रेखांकित करने के लिए ही सम्भवत: इस प्रकार का प्रयास किया है। **कामकाजी महिलाएं —घर और बाहर** के अंतर्गत कामकाजी महिलाओं के जीवन की त्रासदी और विडम्बना को मन्नू भंडारी ने किस रूप में चित्रित किया है इसकी प्रामाणिक खोज की गई है। स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को लेकर एक लम्बे अरसे से पुरुष अपने निष्कर्ष देता चला आया है। लेकिन इधर मन्नू भंडारी जैसी नारी लेखिकाओं ने इस सन्दर्भ में नारी जाति की सही मनोदशा को उजागर करते हुए सामाजिक मूल्यों की टकराहट के बीच उसके व्यक्तित्व की टूटन को अंकित करने में अभूतपूर्व सफलता पाई है। मन्नू भंडारी की विशेषताओं को रेखांकित करते हुए डॉ० गोयल कहती हैं—"मन्नू भंडारी की कहानियों में सूक्ष्म बातें निहायत स्थूल तरीके से कही गई हैं···मन्नू की कहानियों में सामाजिक समस्याओं के विविध प्रारूपों का चित्रांकन हुआ है। सामाजिक समस्याओं के प्रति एक सचेत दृष्टि और रचना के प्रति कला दृष्टि के अद्भुत समन्वय के उदाहरणों के रूप में मन्नू जी की कहानियां हिन्दी की सर्वोत्कृष्ट कहानियां कही जायेंगी। यह कौशल अत्यंत प्रभावपरक एवं अर्थपरक है · मन्नू जी ने अपनी कहानियों में पुरानी समस्याओं को नये परिप्रेक्ष्य एवं नये परिवेश में प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है" आदि। लगता है कि लेखिका मन्नू जी के कहानी-कौशल से अभिभूत है। अन्यथा वह उनकी त्रुटियों एवं कमजोरियों की एकदम अनदेखी न करती।

छपाई, गेट-अप के बढ़िया होने पर भी प्रूफ की भयंकर भूलें मन को कचोटती हैं।

— रेणु

१. मन्नू भंडारी की कहानियों का संसार (आलोचना) / लेखिका : कु० (डॉ०) अनिल गोयल / प्रकाशक : समकालीन प्रकाशन, २७६२, राजगुरु मार्ग, पहाड़गंज, नई दिल्ली-११००५५ / संस्करण : १९८० / मूल्य : बीस रुपये।

Regd. No. : 28871/76 March 1980 Sheeraza Hindi/Bi-monthly



'शीराज़ा' के स्वामित्व तथा अन्य विषयों से सम्बन्धित विवरण

फार्म ४

(नियम ८ देखें)

१. प्रकाशन का स्थान	:	नहर मार्ग, जम्मू तवी
२. प्रकाशन की अवधि	:	द्विमासिक
३. मुद्रक का नाम और राष्ट्रीयता	:	श्री मुहम्मद यूसुफ टेंग, भारतीय
पता	:	जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, नहर मार्ग, जम्मू
४. प्रकाशक का नाम और राष्ट्रीयता,	:	श्री मुहम्मद यूसुफ टेंग, भारतीय,
पता	:	जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज, नहर मार्ग, जम्मू
५. सम्पादक का नाम और राष्ट्रीयता,	:	श्री रमेश मेहता, भारतीय,
पता	:	जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, नहर मार्ग, जम्मू
६. उन व्यक्तियों के नाम एवं पते जो पत्र के स्वामी, भागीदार अथवा एक प्रतिशत से अधिक पूंजी के हिस्सेदार हैं	}	जम्मू एण्ड कश्मीर अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, नहर मार्ग, जम्मू

मैं, मुहम्मद यूसुफ टेंग, एतद् द्वारा यह घोषित करता हूँ कि उपरिलिखित विवरण मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार सत्य है।

हस्ताक्षर—मुहम्मद यूसुफ टेंग